

तिब्बत मुक्ति साधना और भारत-चीन सम्बन्ध

कृष्णनाथ

भारत तिब्बत मैत्री संघ प्रकाशन

1997

प्रकाशन :

सचिव, भारत-तिब्बत मैत्री संघ

6, ब्रह्मपुत्र छात्रावास संरक्षक निवास

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली - 110067

प्रथम संस्करण - 1997

सहयोग राशि - रु : 10/-

मुद्रक :

इनर्शिया प्रिंटर्स

A-39/1, एस एफ एस फ्लैट

साकेत, नई दिल्ली - 110017

फोन : 6866151, 6967823, 6865365,

अनुक्रम

| | पृष्ठ |
|--------------------------------------------|-------|
| भूमिका : श्री रबि राय | |
| तिब्बत मुक्ति साधना | 1 |
| भारत-चीन सम्बन्ध और तिब्बत | 9 |
| हम तिब्बत का सवाल क्यों नहीं उठा सकते ? | 17 |
| तिब्बत की स्वाधीनता के तीन वृत्त | 21 |
| कैलाश-मानसरोवर यात्रा तो मुक्त हो | 25 |
| तिब्बत का दर्द हमारा भी है | 29 |
| मानचित्र - 1 : 1870 में तिब्बत, भारत व चीन | 35 |

भूमिका

भारत और तिब्बत का संबंध दुनिया के इतिहास में अनूठा है। क्योंकि हिमालय और बुद्ध दर्शन दोनों का इसमें योगदान है। तिब्बत पर चीन का कब्जा न सिर्फ तिब्बत के लिये भयंकर कष्टों का कारण बना है बल्कि इससे भारत की कश्मीर से लेकर अरुणाचल तक समूची उत्तर-पूर्वी सीमा खतरे में पड़ गयी। आजादी के बाद से भारत की विदेश नीति में अपनी सीमाओं की सुरक्षा और पड़ोसी देशों के साथ बेहतर संबंधों के लिये जो परिवर्तन अनिवार्य था, उनकी लगातार उपेक्षा की गयी है। इससे हमारा सुरक्षा खर्च बढ़ा है और पड़ोसी देशों विशेषकर हिमालय क्षेत्र में हमारी प्रतिष्ठा गिरी है। इसी के समानांतर चीन का सैनिक दबदबा और राजनीतिक आतंक हिमालय से शुरू होकर पूरी दुनिया पर छा गया।

भारत गौतम और गाँधी का देश है। इसे समूची दुनिया को भूख और भय से मुक्ति दिलाने के लिये अपना विशिष्ट योगदान करना है। इसलिये विश्व शांति और मैत्री हमारा लक्ष्य होना चाहिये। इसमें भारत की जनता और चीन की जनता के बीच समानता आधारित मैत्री स्थापित करना शामिल है। लेकिन जबतक चीन के शासक अपने पड़ोसियों के साथ अमानवीय और औपनिवेशिक बरताव जारी रखेंगे तबतब हमारा यह नैतिक कर्तव्य रहेगा कि हम चीन को एक सभ्य दुनिया बनाने की दिशा में बाधा डालने से रोकने के लिये अपनी पूरी राजनीतिक इच्छा शक्ति व कूटनीतिज्ञ कौशल काम में लाएं।

तिब्बत की मुक्ति के लिये तिब्बत की सम्पूर्ण जनता अपने नेता और गुरु परमपावन दलाई लामा के नेतृत्व में पिछले चार दशकों से अहिंसक तरीके से अनवरत जुटे हुये हैं। 1989 से दुनिया के जनमत में भी इस प्रश्न पर सक्रिय सहानुभूति का विस्तार हो रहा है। भारत की जनता की पूरी सहानुभूति दुखी तिब्बती भाई बहनों के साथ है। भारत के हिमालय प्रदेशों में तिब्बती भाई बहनों को महान बौद्ध संस्कृति की संतान के रूप में अपनत्व के साथ देखा जाता है लेकिन यह चिंता की बात है कि 1949 से भारतीय विदेश मंत्रालय तिब्बत के प्रश्न पर एक के बाद एक लगातार गलतियाँ करता गया है। सरदार वल्लभ भाई पटेल की 1949 के चेतावनी के बावजूद हमारे तत्कालीन नेतृत्व ने तिब्बत और प्रकारांतर से भारत के हिमालय प्रदेशों के बारे में चीन के षड्यंत्र को अनदेखा किया। प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से लेकर आचार्य कृपलानी, डॉ० अम्बेदकर, जयप्रकाश नारायण, श्री छागला, श्री दीन दयाल उपाध्याय और एस० निजलिगप्पा जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने तिब्बत के मामले में विदेश मंत्रालय की गलत दृष्टि के बारे में देश के क्षोभ को खुलकर व्यक्त किया। डॉ० राम मनोहर लोहिया ने तो तिब्बत को चीन से मुक्ति दिलाने को देश की रक्षा की सबसे बड़ी कसौटी मानते हुये हिमालय बचाओ का आंदोलन ही चलाया, लेकिन हमारी हिमालय नीति अभी भी आधी अधूरी है और तिब्बत पर चीन का कब्जा बना हुआ है। चीन लद्दाख, सिक्किम और अरुणाचल पर भी अपना दावा जताता रहता है इसलिये प्रत्येक देशभक्त भारतीय का यह राष्ट्रीय कर्तव्य है कि वह हिमालय की रक्षा के लिए नयी राष्ट्रीय नीति की जरूरत पर बल दे।

प्रो० कृष्णनाथ ने तिब्बत मुक्ति साधना और भारत-चीन संबंध के बारे में पिछले तीस वर्षों में गहन अध्ययन और सक्रिय मार्गदर्शन किया है। भारत की विदेश नीति के बारे में उनकी पिछली पुस्तक ने विदेश नीति को सुधारने की दिशा में जरूरी कदमों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करके ऐतिहासिक योगदान किया। प्रस्तुत निबंध संकलन में हमारी हिमालय नीति, तिब्बत नीति और चीन नीति की कमियों का पूरा विश्लेषण सामने आया है। यह निबंध हमारे राष्ट्रीय कर्तव्य और भावी दिशा का मार्ग दिखाते हैं। मेरी कामना है कि यह संकलन भारत के मौजूदा नेतृत्व को उसके कर्तव्य का बोध कराने में सफल हो। मेरा विश्वास है कि हमारे बुद्धिजीवी, सामाजिक कार्यकर्ता और नयी पीढ़ी के छात्र-छात्राएँ इस निबंधों के आलोक में देश हितकारी हिमालय नीति के लिए आगे आएंगे। मैं आशा करता हूँ कि प्रो० कृष्णनाथ के इन निबंधों के जरिए तिब्बत मुक्ति साधना के लिये भारतीय जनता का सहयोग और असरदार तरीके से सामने आयेगा क्योंकि इस निबंध संकलन में देशभक्त भारतीयों की तिब्बत, कैलाश-मानसरोवर और हिमालय संबंधी दृष्टि को पूरी अभिव्यक्ति मिली है। मैं इस निबंध संकलन के प्रकाशन के लिये भारत-तिब्बत मैत्री संघ को बधाई देता हूँ।

रवि राय

तिब्बत मुक्ति साधना *

तिब्बत की स्वाधीनता का आन्दोलन उतना ही पुराना है जितना चीन द्वारा उसकी पराधीनता। 1949 में कम्युनिस्ट चीन ने तिब्बत को अपने कब्जे में लेने की कुचेष्टा प्रारम्भ की। तभी डाक्टर राममनोहर लोहिया ने वक्तव्य दिया कि एक राक्षस शिशु को दबोच रहा है। 1959 में तो परम पावन दलाई लामा को तिब्बत छोड़ कर भारत की ओर निष्क्रमण करना पड़ा। तब से भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल, आचार्य कृपलानी, डॉ० अम्बेडकर, श्री जयप्रकाश नारायण, डाक्टर राममनोहर लोहिया, श्री दीनदयाल उपाध्याय तथा अन्य भारतीय नेता तिब्बत पर चीन के कब्जे के विरोध में ; और तिब्बत की स्वाधीनता के पक्ष में बोलते रहे हैं। हाल के वर्षों में प्रोफेसर समदोङ रिनपोछे ने प्रवासी तिब्बती संसद के अध्यक्ष के नाते इस आन्दोलन का सूत्र सम्हाला है। उन्होंने इसे तिब्बत की "मुक्ति साधना" की संज्ञा दी है। यह संज्ञा मात्र नहीं है। इसमें गम्भीर अर्थ निहित है। यह मात्र राजनीतिक मुक्ति का आन्दोलन या संघर्ष नहीं है, मुक्ति साधना है।

तिब्बत की मुक्ति साधना नितांत व्यक्तिगत नहीं है। व्यक्ति तो करेगा ही। और नहीं तो कौन करेगा। किन्तु यह शून्यागार में या पेड़ की जड़ में या हिमालय या जंगल की गुफा में बैठकर की जाने वाली साधना नहीं है। यह सामूहिक साधना है। यह युवक-युवतियों तथा अघेड़-वय प्रायः सभी की है। सामूहिक साधना में कुछ ऐसी गति, शक्ति आती है जो मात्र वैयक्तिक साधना में नहीं आती। इस साधना में आध्यात्मिक साधना की भाँति दो अंतो में पतित होने की गुंजाइश रहती है। एक तो अति-उत्साह का अन्त। बड़े जोर-शोर से ऐसे इसमें पड़ना मानो हमने शुरू किया नहीं कि मुक्ति मिली। और जब मुक्ति नहीं मिली तो ऐसे निरुत्साह और उदासीन हो जाना कि अब नहीं मिली तो कभी नहीं मिलेगी। इन दोनों अंतो से बच कर निरंतर काम करते रहना है।

तिब्बत मुक्ति के लिए करने जैसा क्या है ? एक काम तो सत्ता के गलियारों या प्रकोष्ठों में या 'लॉबी' में तिब्बत की मुक्ति के लिए सांसदों से पैरवी करते रहना जिसे 'लॉबींग' कहते हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रश्न है। इसलिए जन-जागरण जरूरी है। काफी नहीं। संसद के साथ-साथ जिन राज्यों की सीमाएं तिब्बत से मिलती हैं, जैसे कश्मीर-लद्दाख, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, सिक्किम, पश्चिमी बंगाल, अरुणाचल प्रदेश उन राज्यों की असेम्बलियों में भी इस प्रश्न को विधायकों के द्वारा बार-बार उठाने और दबाव बनाने के लिए 'लॉबी' करना। इसमें भी संसद और विधानसभा और मंत्रीमण्डल तो देखने-बोलने

* यह निबन्ध अखिल तिब्बत मुक्ति समर्थक विद्यार्थी मंच और महिला मंच के राष्ट्रीय शिविर, (सारनाथ, वाराणसी, 4-5 जनवरी, 1997) में दिये गये समापन भाषण के आधार पर प्रस्तुत है।

विचार-विमर्श के लिए प्रोफेसर समदोङ रिनपोछे, प्रोफेसर अवध किशोर शरण, पंडित रामशंकर त्रिपाठी के प्रति आभारी हूँ। प्रथम प्रारूप का सम्पादन शरण साहब ने किया। कृतज्ञ हूँ।

में सरकार हैं। बिना दिखायी पड़े और बिना बोले सरकार तो अफसर चलाते हैं। विशेषकर विदेश के मामले में विदेश मंत्रालय के 'साऊथ ब्लॉक' के अफसर और प्रतिरक्षा मंत्रालय के अफसर। इनमें चीन के प्रति सुमाया हुआ भय कैसे दूर हो ? क्योंकि ये धीरे से हर आने वाले प्रधान या विदेश या प्रतिरक्षा मंत्री को कह देते हैं कि तिब्बत का प्रश्न उठाना हमारे हक में नहीं है। और ये जो मंत्री वगैरह आते-जाते हैं वे अपनी ही सत्ता और स्वार्थ में इतने उलझे रहते हैं कि वे अपने अफसरों की कही-सुनी बातों पर चलते हैं। ये नहीं जानते कि तिब्बत स्वतंत्रता भारत की सुरक्षा है। ये यह भी नहीं जानते कि चीन में परम्परागत रूप से जो उसके सामने झुकता है उसे चीन दबू समझता है और उसका सम्मान नहीं करता। जो वियतनाम की तरह छोटा देश होने पर भी भिड़ जाता है, दबता नहीं, उसकी इज्जत करता है। इसलिए यह पाठ सरकार के अफसरों को कैसे पढ़ाया जाए और कैसे सांसदों तक पहुँचाया जाए यह एक समस्या है। और एक काम है।

फिर तिब्बत की स्वाधीनता के इतिहास, भूगोल, भाषा, संस्कृति, पर्यावरण आदि के बारे में खोज करना और लोगों में फैलाना भी जरूरी है। क्योंकि देश के करोड़ों लोगों को तिब्बत का कोई परिचय ही नहीं। यह तक पता नहीं कि हमारे पवित्रतम तीर्थ कैलास-मानसरोवर तिब्बत में हैं। और चीन के कब्जे में हैं। चीन इसे कमाई का जरिया बनाये हुए है। न यह पता है कि भारत और चीन की तो सीमा मिलती ही नहीं। भारत और तिब्बत की सीमा एक है। और वह तीर्थ रही है। तिब्बत के तीर्थ भारत में और भारत के तिब्बत में। उसका कोई विवाद नहीं। फिर चीन से कैसा सीमा-विवाद और कैसा समझौता ? और यह स्थिति प्राचीन काल में या मध्य काल में ही नहीं, आधुनिक ब्रिटिश में, आजादी से पूर्व 1947 तक रही है। मार्च 1947 में नयी दिल्ली में आयोजित एशियन रिलेशंस कांफरेंस में तिब्बत का प्रतिनिधि स्वतंत्र एशियाई देश के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित था। 1956 में बुद्धाब्द 2500 के आयोजन में दलाई लामा (और पंचेन लामा) तिब्बत के राष्ट्राध्यक्ष के रूप में भारत आये थे। यहां सारनाथ पधारे थे। इनकी सूचना और संचार का काम भी महत्व का है।

संचार माध्यमों का, 'इलेक्ट्रानिक' और 'प्रिंट मीडिया' का बढ़ता हुआ रोल है। उसका ठीक इस्तेमाल एक कला है। उसे सीखकर तिब्बत मुक्ति साधना का प्रचार-प्रसार किया जा सकता है।

फिर, समय-समय पर जो कार्यक्रम चलाये जाएं, जैसे हस्ताक्षर अभियान, उन्हें चलाते रहना है। हरकत करते रहना, नाजायज नहीं, ठीक हरकत करते रहना जरूरी है।

जो कार्यक्रम खुद न कर सकते हों जैसे देश-विदेश में लेक्चर देना और समर्थन जुटाना उसे सम्भव बनाने के लिए धन-संग्रह करना यह भी एक काम है। अपने-अपने स्थान पर विश्वविद्यालय, विद्यालय या सार्वजनिक सभा के लिए भारतीय-तिब्बती विशिष्ट वक्ताओं को आमंत्रित करना, उनकी यात्रा, प्रचार, सभा के आयोजन के लिए धन संग्रह करना यह एक जरूरी काम है। सभा खत्म होने पर जब आयोजक चंदा माँगने के बजाए पहले

ही प्रयत्न करना अच्छा है। सभा खत्म होने पर जब आयोजक चंदा माँगने लगते हैं तो लोग खिसकने लगते हैं।

तिब्बती हस्त-शिल्प की चीजों को खरीद कर या उनकी विक्री में मदद कर, तिब्बती अस्मिता विषयक स्मृति चिह्न जैसे झण्डा, हिम शिखर सहित नील वस्त्र, 'टी शर्ट', बिल्ला वगैरह भेंट कर इस संदेश को फैलाया जा सकता है।

तिब्बती मुक्ति का अन्तराष्ट्रीय आयाम भी महत्त्व का है। भारत की जिम्मेदारी तो प्रथम है। किन्तु जनतांत्रिक देशों का अगुआ होने के नाते अमेरिका की तथा पश्चिमी-पूर्वी युरोपीय देशों की भी बहुत बड़ी भूमिका है। फिर चीन के पड़ोसी एशियाई-प्रशांत क्षेत्रों के देशों का दबाव भी पड़े तो फर्क पड़ेगा। इनमें से अधिकांश में धर्म संस्कृति का प्रसार रहा है। बौद्ध विश्व की सुप्त या दबी चेतना को भी जगाने की जरूरत है।

फिर, चीन के तीन उपनिवेशों में जैसे चीनी तुर्किस्तान, इनर मंगोलिया, और तिब्बत में जो मुक्ति आन्दोलन हैं उनमें परस्पर सम्बन्ध बनाने की जरूरत है।

चीन में माओ के बाद जो आधुनिकीकरण शुरू हुआ है, उसका जो भी लाभ है, वह तट प्रदेशों को है। प्रत्यन्त प्रदेश उससे छुटे हुए हैं। तटीय देशों में भी सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी के अफसरों का नव-धनी वर्ग आधुनिक साज-सज्जा और दिखावटी उपयोग भोग रहा है। इसके चलते वह इन तटीय प्रदेशों में भी शासक वर्ग जनता और कार्यकर्ता से दूर होता जा रहा है। प्रत्यन्त प्रदेशों से तो दूर है ही। यह वैषम्य अन्दर-अन्दर आम असंतोष को बढ़ाता जा रहा है। आधुनिकीकरण और बाजारू अर्थव्यवस्था का यह अन्तर्द्वन्द्व कम्युनिस्ट चीन को अन्दर से नष्ट करने वाला है। किन्तु अपने आप यह द्वन्द्व दीर्घकाल में मारक बनता है। उसके होने के लिए मुक्ति साधना इतनी बड़ी प्रतीक्षा नहीं कर सकती। दीर्घकाल में तो हम मर गये होंगे।

चीन के अन्दर जो जनतांत्रिक और स्वतंत्रता प्रेमी युवा शक्ति का विस्फोट हुआ है, त्यान मन चौक में, और उसके बाद वह प्रवासी चीनियों के साथ सारी दुनियां में कमोबेश फैल गया है उससे कुछ सम्पर्क हुआ है। उसे और गहरा बनाने की जरूरत है। इस भारत में चल रही मुक्ति साधना का अन्तराष्ट्रीय विभाग भी होना चाहिए। किसी सरकारी विभाग की तरह नहीं, किन्तु शोध और सम्पर्क सूत्र में, जैसे भारत के स्वतंत्रता संग्राम में कांग्रेस का विदेश विभाग था।

ये कुछ करणीय काम हैं। काम की कमी नहीं है। विद्या-आचरण सम्पन्न कार्यकर्ताओं की कमी है। हमारे देश में, लगभग 90 करोड़ की आबादी में काम के लायक कितने लोग हैं? उसमें भी हम शायद गुरु देश के हैं। इसलिए दूसरों को, भारतीय तिब्बतियों को बार-बार बताते हैं कि उनको यह करना चाहिए, वह करना चाहिए। और खुद को क्या करना चाहिए, इसे या तो हम जानते ही नहीं या जान कर भी अनजान बने रहते हैं। कुछ करते नहीं।

तिब्बत की मुक्ति के लिए करने लायक काम की इस सूची में अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार जो चाहे जोड़ या घटा सकते हैं। जो भी करें इस भाव से कि यह साधना है। इस साधना के साध्य और साधन दोनों पवित्र हों तो सिद्धि कदम चूमेगी। किन्तु यह गुह्य साधना नहीं है जाहिर भी है। साधना कहने में एक खतरा है। कोई यह कह सकता है कि असली मुक्ति तो मन की है। मन अगर मुक्त है तो चाहे चीनी शासन करें या कोई और क्या फर्क पड़ता है? और अगर मन राग, द्वेष, मोह के अधीन है तो तिब्बत स्वाधीन भी हो तो क्या?

यह भी कहा जाता है कि भला हो चीन का जिसने तिब्बत पर कब्जा कर लिया तो तिब्बत में छिपी बौद्ध साधना और धर्म और संस्कृति अब भारत और पश्चिम और शेष दुनिया में फैल गयी। तो कोई चीनी हमलावरों को साधुवाद भी दे सकते हैं। उन्होंने बड़ा उपकार किया अन्यथा हमें परम पावन दलाई लामा का दर्शन कहां हो पाता?

भारत में ब्रिटिश राज के विरुद्ध जब स्वाधीनता संग्राम चल रहा था तो अंग्रेजी सत्ता-व्यवस्था से सुविधा प्राप्त दार्शनिक और चिन्तक पहले किस्म का प्रज्ञावाद उचारते थे कि असली और अन्तिम मुक्ति तो अविद्या और अहंकार और भय से मुक्ति में है। सरकारी प्रकाशन अंग्रेजी शासन के तहत जो भौतिक और नैतिक प्रगति हो रही है उसका बखान भी करते थे। ऐसे ही चीन से भय या स्वार्थ; या सबसे ऊपर अज्ञान के कारण तिब्बत की मुक्ति साधना के क्रम में कहा जा सकता है। बल्कि कहा जा रहा है। तो मुक्ति या बोधि या सत्य या सुन्दर—इनमें अन्दर—बाहर का बँटवारा नहीं है। ऐसा नहीं कि चीन तिब्बत की छाती पर बैठा है और 12लाख तिब्बतियों, तिब्बत की कुल आबादी के पाँचवे भाग का नरसंहार कर चुका है, तिब्बत में ही तिब्बतियों को दूसरे दर्जे का और अल्पसंख्यक बना रहा है। आणविक कचरा डाल रहा है, वन—वनस्पति का सफाया कर रहा है और उपनिवेश कायम किये हुए है। परम पावन दलाई लामा के नेतृत्व में प्रायः एक लाख तिब्बती निर्वासित हैं, शरण के लिए भारत और विश्व के हर कोने में बिखर गये हैं, फिर भी वे आजाद हैं। अपने देश, गाँव, घर में सूखी रोटी खा कर पड़े रहना प्रवास में जाने से ज्यादा सुख देता है। फिर, तिब्बत में जो धर्म, दर्शन, संस्कृति, साधना सुरक्षित थी वह सारी दुनिया में फैल जरूर गयी है किन्तु उसकी वह पवित्रता और शुद्धता नहीं है जो उस दुर्गम प्रदेश में थी। तिब्बत जैसा चारों ओर से पर्वतों से घिरा अगम्य प्रदेश साधना का प्राकृतिक दुर्ग होता है। वह किला ढह गया है। वह भूमि नहीं, शांति का क्षेत्र नहीं तो तिब्बती साधना भी अपनी सुगंध बिखेर कर नष्ट हो जाने वाली है। इसलिए तिब्बत का अविलम्ब स्वाधीन होकर शांति और अहिंसा का क्षेत्र बनना न सिर्फ तिब्बत के लिए बल्कि मनुष्य जाति की अमूल्य धरोहर के संरक्षण—संवर्धन के लिए जरूरी है। इसमें तनिक भी विलम्ब मारक है।

साधना में भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना सुगम होता है। जैसे बाहर पृथ्वी को देखे और फिर अन्तर में उसकी भावना करे। स्थूल, बाह्य, प्रगट रूप से तो कुचला हुआ हो और अन्दर—अन्दर मुक्ति का अनुभव करे यह कौन—सी रीति है ?

फिर, जो चीन ने तिब्बत में सड़क बनायी, स्कूल खोले, बिजली दौड़ायी, संचार, पर्यटन बढ़ाया, जो आर्थिक निर्माण किया वह कब्जा को बनाये रखने के लिए, शांति के दिनों में चीनी माल और सेवा के लिए बाजार और उससे लाभ के लिए; और युद्ध के दिनों में पलटन में भरती और सैनिक छावनी और अड्डे बनाये रखने के लिए है। वास्तव में इसका सारा संदर्भ साम्राज्यवादी-औपनिवेशिक है। और यह साम्राज्यशाही एक ऐसा विषैला पात्र है जिसमें दूध भी रखा जाए तो विषैला हो जाता है। बीसवीं सदी के मध्य जो समुद्र पार साम्राज्य थे वे ढह गये। ब्रिटेन, पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस आदि के उपनिवेश जो एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका के महाद्वीपों में थे वे सभी स्वाधीन हो गये। भारत की स्वाधीनता ने विश्व में इस स्वाधीनता की अगुआई की। किन्तु जो भूमि से जुड़े भूखण्डों में उपनिवेश थे, जैसे रूस के और चीन के वे समुद्र पार के उपनिवेशों से कम उजागर थे। इसलिए शुरू में कायम रहे। किन्तु 1980 की दहाई में सोवियत संघ के नाम पर चल रहे रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत एशिया और पूर्वी यूरोप के गणराज्य भी स्वाधीन देश बन गये। मध्य एशिया में ही पाँच गणराज्य अब स्वाधीन हैं – कजाकिस्तान, ताजिकिस्तान, उजबेकिस्तान, किर्गिस्तान, तुर्कमेनिस्तान। पश्चिमी तुर्किस्तान जो सोवियत रूसी साम्राज्य के अधीन था, अब स्वाधीन है। पूर्वी तुर्किस्तान जिसे चीन सिंक्रांग का नाम देकर अपना प्रदेश बताता है वह मुस्लिम प्रदेश पश्चिमी तुर्किस्तान की तरह स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहा है। इसी तरह 'आऊटर मंगोलिया' या मंगोलिया स्वाधीन है। 'इनर मंगोलिया' चीन के कब्जे में है। जैसे कि तिब्बत है।

अगर इतिहास चक्र है, कालचक्र है तो जैसे पहले समुद्र पार के साम्राज्य एक एक कर ढहे वैसे अब भूमि पार के साम्राज्य के ढहने का क्रम है। रूसी साम्राज्य के ढहने से यह सिलसिला शुरू हुआ है। इस प्रकार तिब्बत की मुक्ति चीन की साम्राज्यशाही-तानाशाही से मुक्ति है और जनतंत्र और स्वतंत्रता की वापसी है।

कालचक्र की गति अचिंत्य है। अगर यह चक्र कहीं अटक जाए, जैसे जगन्नाथ का रथ रुका रहता है तो उसे चलाने के लिए बहुतों को पराक्रम करना होता है। तब वह चलता है। बल्कि दौड़ता है। लेकिन इसके लिए न्यूनतम आवश्यक प्रयत्न ('क्रिटिकल मिनिमम एफर्ट'), सम्यक व्यायाम, जरूरी होता है। जब वह चल निकलता है तब तो वह स्वचालित होता है, किन्तु प्रारम्भ में प्रयत्न जरूरी है। खाली यह देख लेने से कि तिब्बत या हम मुक्त हो गये मुक्त नहीं हो जाते। देखने के साथ-साथ, ज्ञान के साथ इच्छा और क्रिया का मेल स्वातंत्र्य के लिए आवश्यक है। और स्वातंत्र्य में आनन्द है।

स्वातंत्र्य साधना के एक चतुर्भुज की कल्पना की जा सकती है। इसकी एक भुजा राजनैतिक, दूसरी आर्थिक, तीसरी सामाजिक; और चौथी मानसिक – आध्यात्मिक है। इन चारों भूमियों पर जब साधना दृढ़ हो तो मुक्ति है, अन्यथा नहीं। इनमें से किसी एक को खारिज करने से या बाह्य-आन्तरिक द्वन्द्व को तानने से मुक्ति अपूर्ण, इसलिए मृषा है।

इस सिलसिले में एक प्रश्न सालता है कि तिब्बत एक स्वाधीन देश रहा है। 1950 की दहाई से चीन के कब्जे में है। मुक्ति के लिए छटपटा रहा है और स्वराज्य उसका जन्मसिद्ध,

स्वयंसिद्ध अधिकार—कर्तव्य है। अपने विश्वास, पूजा, साधना, अस्मिता के लिए तिब्बत की स्वाधीनता सूर्य की तरह स्वयंप्रकाश है। 'प्रसाद' के शब्दों में "स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता" उसे पुकारती है। किन्तु ऐसा क्यों होता है कि अल्पकाल में यह स्वयंसिद्ध सत्य निर्बल रहता है और साम्राज्यवाद—उपनिवेशवाद का असत्य प्रबल होता है ? क्या यहां भी ग्रेशम का नियम काम करता है ? यह नियम है कि अल्पकाल में खोटा सिक्का खरे सिकके को बाजार से बाहर कर देता है। दीर्घकाल में तो वह खोटा सिक्का पकड़ में आता है और उसे चलाने वाला धोखाधड़ी में पकड़ा जाता है। जैसे कि दीर्घकाल में सत्य की ही विजय होती है, सत्यमेव जयते। किन्तु दीर्घकाल में जब हम सभी मर जाएंगे तब सत्य की विजय होगी ? या कब होगी ? कोई बताए।

मुक्ति तो एक क्षण में होती है। जैसे बोधि। एकक्षणाभि सम्बोधः। बोधि तो एकक्षण में है। किन्तु वह क्षण कठिन साधना के बाद आता है। वह होती तो है एकक्षण में ही, किन्तु वह क्षण कब आएगा ? इसमें समय का तत्त्व महत्त्व का है। काल बलवान है। ऐसा नहीं कि तिब्बत मुक्ति साधना हजार साल तक चले, सौ साल चले, यहां तक कि दस साल चले तब मुक्ति हो। तिब्बत की प्रकृति, परिस्थिति भिन्न है। भारत अंग्रेजी राज के प्रायः सौ साल बाद आजाद हो सका, किन्तु तिब्बत मुक्ति साधना 100 साल तक कैसे चल सकती है ? तब तक तो तिब्बत में तिब्बती मानुष और तिब्बती धर्म, दर्शन, संस्कृति सभी कुछ नष्ट हो चुका होगा। अभी ही तिब्बत के पूर्वी भाग को चीन में मिला दिया गया है, चीन का प्रान्त बना दिया गया है। तथाकथित "तिब्बती स्वायत्त क्षेत्र" में भी चीनी बसाये जा चुके हैं। सुनते हैं प्रायः 60 लाख तिब्बतियों के मुकाबले प्रायः 70 लाख चीनी बसाये जा चुके हैं। चीन की जनसंख्या का विस्फोट उसके तट देश में समाता नहीं हैं, इसलिए वह प्रशांत महासागर के पार अमेरिका के पश्चिमी तट पर, प्रशांत के द्वीपों और दक्षिण—पूर्व एशिया, दक्षिण—एशिया, पश्चिम एशिया सब दूर जहां सींग समाये घुस जाना चाहता है। जहां उसे कोई हँकाता नहीं, टोकता नहीं, बल्कि भाई—भाई कहकर सिर नवाता है, वहाँ तो और भी घुस जाता है। तिब्बत के उपनिवेश में शांति के दिनों में उसे बसने के लिए भूमि और युद्ध के दिनों में अड्डा मिल गया है। इसलिए वह वहां से आसानी से हटने वाला नहीं है। और चीनी आदमी नहीं, व्यवस्था दुख देती है। इसमें कभी—कभी तो चीनी अफसर से ज्यादा उससे स्वार्थवश जुड़ा तिब्बती जुल्म ढाता है। भारत की तरह तिब्बत में भी पुश्तैनी गुलामों का एक वर्ग है। वह साम्यवाद के आवरण के पीछे चीनी साम्राज्यशाही का दलाल है। चाकर है। वह तिब्बत की मुक्ति में अपनी हानि देखता है और अपने लाभ—लोभ के लिए तिब्बती भाई—बहनों से चीनी अफसर से भी ज्यादा कठोर व्यवहार करता है। इस वर्ग में तिब्बत में स्थापित चीनी शासन के तिब्बती अफसर और कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता शामिल हैं। यह चाहे तिब्बती जनसंख्या के 1 प्रतिशत हों, या अधिक, किन्तु शासन की जगहों में होने के चलते ज्यादा विपत्तिकर हैं।

जो हो, तिब्बत मुक्ति साधना के साथ—साथ समय बलवान है। तिब्बत का प्रश्न बीसवीं सदी में प्रारम्भ हुए एशियाई स्वाधीनता आन्दोलन का अपूर्ण काम है। यह स्वाधीनता के 'एजेंडा' का एक विलंबित काम है। इसे इस शताब्दी के अंत होते—होते पूरा होना है।

इक्कीसवीं सदी में स्वाधीन तिब्बत का प्रवेश एशिया में स्वाधीनता और शांति के एक नये सहस्राब्द की शुरुआत करे, ऐसी हमारी मंगलकामना है। दृष्य-अदृष्य शक्तियों से प्रार्थना है।

भारत-चीन सम्बन्ध और तिब्बत

कहा जाता है कि भारत और चीन के सम्बन्धों में सुधार में तिब्बत के चलते बिगाड़ आ जाता है। देश के हित में चीन से मैत्री है। तिब्बत का प्रश्न इसमें आड़े आता है। इसलिए तिब्बत का प्रश्न उठाने से क्या फायदा ? बल्कि यहां तक कहा जाता है कि 1959 में परम पावन दलाई लामा के तिब्बत से भाग कर भारत में शरण लेने के कारण चीन नाराज हो गया और उसने सबक सिखाने के लिए 1962 में भारत पर आक्रमण कर दिया। इसलिए अगर तिब्बत का प्रश्न बीच में न उठाया जाए तो भारत-चीन का विवाद सलट सकता है। मैत्री हो सकती है। फिर हिन्दी-चीनी भाई-भाई हो सकता है, इत्यादि।

इस कथन की परीक्षा जरूरी है। इसमें दो राय नहीं कि भारत-चीन के सम्बन्धों में सुधार अच्छा है। शत्रुता के बजाय मित्रता अच्छी है। किन्तु प्रश्न यह है कि इस मित्रता का आधार क्या है ? और क्या इसमें तिब्बत अटक है ? या इसमें अटक कहां है ?

भारत चीन की मित्रता और स्पर्द्धा दोनों ही हैं। एशिया के दो प्राचीन सभ्यताओं का सम्बन्ध एकरसा नहीं, दो-रसा है। अभेद बुद्धि से सिर्फ मित्रता देखना और स्पर्द्धा न देखना ठीक नहीं। चीन का राष्ट्रीय मिजाज क्या है ? परम्परागत रूप से हान चीनी अपने को विश्व का केन्द्रीय राज्य ('मिडल किंग्डम') मानते हैं। शेष विश्व उनके इर्द-गिर्द है। भारत में बौद्ध धर्म के प्रवेश के पूर्व लाओ-ज्जे की महान परम्परा थी और कन्फ्यूशियस की व्यवस्था। इस भूमि पर बौद्ध धर्म का भी एक विशिष्ट परिपाक चीन में हुआ। उसका मूल भारतीय है किन्तु आगामी विकास विशिष्ट रूप से चीनी है। तिब्बत में बौद्ध धर्म भारत से गया। वहाँ आज से प्रायः 1200 वर्ष पूर्व भारतीय आचार्यों और चीनी भिक्षु ह्शङ्ग महायान में विवाद की सूचना है। आठवीं शताब्दी में तिब्बत के प्रथम बौद्ध विहार समये में यह विवाद हुआ। भारत से आचार्य कमलशील ने और चीनी ह्शङ्ग महायान ने इसमें भाग लिया। विवाद का विषय था कि बोधि एकक्षण में है। यह तो दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य कमलशील मानते हैं कि भावना (साधना) क्रम के बिना बोधि का वह क्षण प्राप्त नहीं होता। जबकि ह्शङ्ग महायान मानते हैं कि क्रम, प्रयत्न आवश्यक नहीं, बंधन कारक हैं, बोधि अक्रम है। एक क्षण में प्राप्त है। आठवीं शताब्दी में तिब्बत में यह विवाद भारतीय आचार्य कमलशील के पक्ष में निर्णीत हुआ और भावनाक्रम को स्वीकार किया गया। किन्तु चीन को यह स्वीकार नहीं।

तिब्बत में सिर्फ भारत-चीन का संघर्ष नहीं, समन्वय भी है। परम पावन दलाई लामा कहते हैं कि तिब्बतियों ने धर्म-दर्शन भारत से लिया, भोजन-व्यंजन चीन से और कपड़ा मंगोलिया से इत्यादि। तिब्बत में भारत ने धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तो दी किन्तु परम्परागत रूप से राजनीतिक अधिकार नहीं दिया। उधर चीन की चेष्टा प्रभुत्व की रही है। जब हान चीनी साम्राज्य प्रबल हुआ है तो उसने तिब्बत पर कब्जा करना चाहा है। यह बात अलग है कि दूरी, संचार साधनों का अभाव और दुर्गम प्रदेश होने के कारण यह कब्जा कभी वास्तविक नहीं था। कभी उल्टे तिब्बत ने भी चीन पर चढ़ाई की और वहां से राजकुमारी, रेशमी कपड़ा,

चित्रकला, खाने-पीने की चीजें और कला वगैरह ले आये। कहते हैं कि तिब्बत में बौद्ध धर्म एक ओर तो नेपाल की राजकुमारी लार्गी, दूसरी ओर से चीन की राजकुमारी। ऐसा विश्वास है। ऐतिहासिक तथ्य हो, न हो।

चीन का संसार का मध्य देश होने का अहंकार उसके कम्युनिस्ट होने के बाद भी कमा नहीं। माओ का एक वाक्य दुहराया जाता है बीजिंग से पेरिस का रास्ता कलकत्ता होकर है। पूरब की हवा पश्चिम पर बह रही हैं। इसमें पूरब में भारत नहीं, चीन है।

1949 में दूसरे महायुद्ध के बाद चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित होने के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका में एक पक्ष था जो माओ के चीन को मान्यता देकर उससे सम्बन्ध चाहता था। किन्तु उन दिनों के शीतयुद्ध और कम्युनिस्ट विरोध के चलते अमेरिकी प्रशासन ने चीन के बजाय 1950-51 से भारत को मदद देना शुरू किया। इसका उद्देश्य चीन के मुकाबले एशिया में भारत को खड़ा करना था। जब अमेरिका ने भारत को चुना तो सोवियत रूस ने भारत को कम, चीन को ज्यादा महत्व देना शुरू किया: भारत मित्र है, चीन भाई है। किन्तु कम्युनिस्ट विश्व में नेतृत्व के प्रश्न को लेकर और सीमा के प्रश्न पर जब सोवियत रूस और कम्युनिस्ट चीन में 1960 की दहाई में विवाद प्रारम्भ हुआ तो रूस ने भी अमेरिका की भांति भारत की ओर अपना रुझान दिखाया। अनेक अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर एशिया में चीन की जगह भारत को महत्व दिया। इसका प्रयोजन कोई भारत धर्म-दर्शन के लिए सम्मान नहीं था, शुद्ध राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अमेरिका और रूस भारत को चीन के मुकाबले खड़ा करने में और कभी उन्हें लड़ा कर एशिया में शक्ति-संतुलन अपने पक्ष में रखने में लगे हुए थे। विदेशी सहायता और विदेश नीति के अपने अध्ययन (इम्पैक्ट ऑफ फॉरेन एड ऑन इंडियाज़ फारेन पालिसी....., 1970) में मैंने अमेरिका-रूस की इस नीति के लक्ष्य का खुलासा किया है। जहाँ दोनों के हितों और आदर्शों में टकराव है वहाँ एशिया में भारत को चीन के मुकाबले या चीन को भारत के मुकाबले खड़ा करना भी इनकी नीति का समान आधार रहा है। जो हो, एशिया में शक्ति के त्रिभुज-भारत, चीन व जापान में भारत कोई चीज नहीं है, यही दिखाना मेरी समझ में अक्टूबर 1962 में चीन के भारत की हिमालयी सीमा पर आक्रमण का मुख्य प्रयोजन था। जब उसने यह दिखा दिया तो वह स्वेच्छा से एक महीने के भीतर हट गया। किन्तु यह छाप छोड़ गया कि भारत उसके मुकाबले में कोई चीज नहीं।

जो लोग सुनी-सुनायी बातों पर जाते हैं और जो भारत-चीन सम्बन्धों के मर्म को न जानते हैं, न जानना चाहते हैं, वे दलाई लामा और तिब्बतियों को शरण देने को चीन से सम्बन्ध बिगड़ने का कारण बताते हैं। अगर यह कारण होता तो चीनी वापसी इस शर्त पर करते कि कोई सूचना कहीं से नहीं है। न हो सकती है। मेरी समझ में चीन का तिब्बत पार कर भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण का एक कारण भारत को नीचा दिखाना है।

अधिक महत्वपूर्ण और स्थायी कारण चीन में भूमि और जनसंख्या का प्रश्न है। चीन की बसावत ज्यादा कर तटीय प्रदेशों की ओर है। आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण और

ऊर्जा आदि के फल इस तटीय देश को प्राप्त है। प्रत्यंत प्रदेश अत्यंत शीत, वायु से त्रस्त और रेगिस्तान या बसने के योग्य नहीं है। एक परिवार में एक संतान के जनसंख्या नियंत्रण के लक्ष्य के बावजूद चीन की जनसंख्या 100 करोड़ से अधिक है। इस जनसंख्या के लिए भूमि और रोजगार देना किसी भी चीनी शासन की भांति, कम्युनिस्ट शासन की भी बड़ी भारी समस्या है। इसलिए जनसंख्या का यह दबाव उसे पूर्व में प्रशांत महासागर के द्वीपों में और महासागर पार अमेरिका के पश्चिम तट पर कैलिफोर्निया आदि राज्यों में दस्तक देने, उत्तर में मंगोलिया, कोरिया, साइबेरिया आदि प्रदेशों में, पश्चिम में मध्य एशिया में, और दक्षिण में तिब्बत होकर हिमालय के दक्षिण के मैदानों और बर्मा, थाईलैंड, कम्बोडिया, मलेशिया, सिंगापुर, आस्ट्रेलिया, फिलीपींस आदि में घुसपैठ जैसे उसके अस्तित्व की समस्या है। अमेरिका में अपमानित होता है, निकाला जाता है, फिर-फिर आ जाता है, नौकाओं से आता है, मजदूर के रूप में आता है, दौत के डाक्टर के रूप में घुसपैठ करता रहता है, शरणार्थी के रूप में आता है। जहां आ जाता है वहां से लौटता नहीं। वियतनाम जब अमेरिका से लड़ रहा था तो चीन ने अपने स्वयंसेवक भेजने की पहल की। वियतनामी और दक्षिण-पूर्व एशियाई अपने अनुभव से जानते हैं कि चीनी जहां आ जाता है वहां से जल्दी लौटता नहीं। इसलिए जो देश अपनी चीन सम्बन्धी नीति यथार्थ पर बनाते हैं वे चीन के आग्रजन ('इमीग्रेशन') के प्रति सदा सजग रहते हैं। चीनी भी जहां घुसते ही खदेड़ दिये जाते हैं वहीं बाज़ आते हैं। जहां सींग समाती है, वहां घुस जाते हैं। धीरे-धीरे अपना 'चाइना टाऊन' बसा लेते हैं। प्रशांत महासागर के अनेक द्वीपों में, हवाई समेत, अमेरिका के पश्चिमी तट पर, सिंगापुर में, बैंकाक में, 62 के आक्रमण के पूर्व कलकत्ता में जिन्होंने 'चाइना टाऊन' देखे हैं वे उनकी सहनशक्ति, उनके कौशल और उनकी भूमि की भूख को जानते हैं।

चीन के जरा सा दबाव डालने पर कि तिब्बत चीन का अंग है, तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की शाब्दिक नफासत के साथ ('सुजरेंटी' है, 'सावरेंटी' नहीं) तिब्बत को चीन के सुपुर्द कर दिया। जबकि अत्यंत प्राचीन काल से ब्रिटिश काल तक तिब्बत को भारत और चीन के बीच स्वतंत्र देश बनाये रखने की नीति रही है। तिब्बत स्वाधीन देश रहा है। इतिहास, भूगोल, धर्म, भाषा, लिपि, नस्ल, जन आकांक्षा की दृष्टि से चीन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अलबत्ता वह चीन का पड़ोसी देश है। उसकी निकासी एक ओर तो भारत की ओर है दूसरी ओर चीन की ओर से है। जब कि भारत तिब्बत का गुरु देश है। उसने बौद्ध धर्म-संस्कृति भारत से प्राप्त की है और जब भारत के मध्य देश में वह लुप्त हो गयी तो उसे शताब्दियों से सुरक्षित रखा है। भारत के बौद्ध तीर्थ बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर तिब्बत के पवित्र तीर्थ हैं। कैलास-मानसरोवर भारतीय हिन्दुओं और तिब्बती बौद्धों के तिब्बत में स्थित हिमालयी तीर्थ संसार के पवित्रतम तीर्थों में हैं। मार्च 1947 में नयी दिल्ली में आयोजित एशियन रिलेंशंस कांफरेंस में तिब्बत के प्रतिनिधि ने भाग लिया था। 1956 में बुद्धाब्द 2500 के आयोजन में परम पावन दलाई लामा तिब्बत के राष्ट्राध्यक्ष की से पंचेन लामा के साथ सारनाथ सहित भारत की तीर्थयात्रा पर आये थे। इसलिए जब तिब्बत की स्वतंत्रता और अस्मिता की रक्षा के लिए उन्हें मार्च, 1959 में ल्हासा से निष्क्रमण करना पड़ा तो स्वभावतया उन्हें भारत ही सूझा। ल्हासा से निकल पूर्ववाहिनी सांग-पो-ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे घोड़ों से सेला दर्रा पार कर पैदल सेला

ऐ बोमडिला होकर तेजपुर आने का अवसर मिला है। तवाङ के पार पर वे हजारों किलोमीटर की यात्रा कर तवाङ-सेला-बोमडिला होकर तेजपुर उतरे। मुझे तवाङ के पार तिब्बत में चीनी चक्रव्यूह से निकल आने के चमत्कार की कल्पना ही की जा सकती है। यह तो अपूर्व है, न इससे पूर्व न पक्षचात ऐसा कोई हाड़ मांस का मनुष्य कर सका है, न कर सकता है। उधर प्रधानमंत्री नेहरू ने भी जैसे तिब्बत के मामले में अपनी भूल नहीं, पाप के प्रायश्चित के लिए तेजपुर में परम पावन लामा का स्वागत किया, और उन्हें सम्मानपूर्वक भारत में शरण दी। 1959 में प्रायः 60,000 तिब्बती शरणार्थी भारत आये। इन दिनों इनकी संख्या प्रायः 1,00,000 है। एक लाख तो यहां बनारस के मुहल्ले भेलूपुर, या दिल्ली के करोलबाग की आबादी का भी आधा या एक-चौथाई है। पिछले 37 वर्षों में तिब्बतियों की वृद्ध पीढ़ी ने यहां शरीर त्याग किया। उन दिनों की दलाई लामा जैसे युवकों की पीढ़ी अब प्रायः 60 वर्ष से ऊपर हो गयी। और लड़के-लड़कियों की प्रायः दो पीढ़ियां यहीं जन्मी-पली-बढ़ी। इन प्रवासी तिब्बती भाई बहनों ने भारत की लुप्त बौद्ध विद्या के पुनरुद्धार में, तंत्र, चिकित्सा, हस्तशिल्प, पर्यटन, पलटन, ऊनी कपड़ों के व्यापार आदि के द्वारा भारत की संस्कृति को कितना समृद्ध किया है, यह अलग से कहने वाली बात है।

यहां रहकर महात्मा गांधी के सत्य, अहिंसा के आधार पर तिब्बत की स्वतंत्रता और अस्मिता की रक्षा के लिए परम पावन दलाई लामा ने जो शांतिपूर्ण अहिंसक मार्ग अपनाया है उसके लिए उन्हें शांति के नोबल पुरस्कार से सम्मानित कर पुरस्कार सम्मानित हुआ है। यहां सारनाथ में केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान पिछले प्रायः 25 वर्षों से कार्यरत है। विश्वविद्यालय प्रणाली के अंतर्गत तिब्बत की संस्कृति और बौद्ध विद्या के संरक्षण-संवर्धन की यह अद्भुत प्रयोगशाला है। यहां तिब्बत के और हिमालयी सीमांत के भोट-भाषी भारतीय, युवक-युवतियां, भिक्षु और गृही, योग्य तिब्बती-भारतीय आचार्यों से विद्या और आचरण सीख रहे हैं। ये विद्या-आचरण सम्पन्न आचार्य और विद्यार्थी सारे बौद्ध विश्व में अपना स्थान बना रहे हैं। अमेरिका के हैम्शायर, स्मिथ, ऐमहर्स्ट कालेज के धर्म के अध्यापक, विद्यार्थी तिब्बती संस्थान और तिब्बती संस्थान के अध्यापक, विद्यार्थी पिछले पाँच वर्षों से उन-उन कालेजों में शैक्षणिक विनिमय के कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। इनसे इन युवक-युवतियों के अनुभव और ज्ञान के क्षितिज का विस्तार होता है और भिन्न संस्कृति और परम्परा और आधुनिकता के समागम से उनका जीवन समृद्ध होता है। संस्थान के विशिष्ट योगदान को मान्यता देते हुए इसे विश्वविद्यालय का दर्जा प्रदान किया गया है। यहां का पुस्तकालय समृद्ध है। परम्परागत बुद्धवचन (कंग्युर), शास्त्र वचन (तंग्युर) के अतिरिक्त विश्व में बौद्ध विद्या के क्षेत्र में और सम्बन्धित क्षेत्रों में जो भी सामग्री पुस्तक, शोध पत्रिका, माइक्रोफिल्म, माइक्रोफिश, पांडुलिपि उपलब्ध हैं उसका अधिकांश यहां अध्ययन और शोध के लिए उपलब्ध है। यहां के शील-दर्शन सम्पन्न आचार्य और विद्यार्थी इसकी अमूल्य मानवीय पूँजी हैं और इनको देखकर देश की बौद्ध धारा के अतीत और भविष्य के प्रति गौरव बुद्धि जगती है।

इस प्रकार परम पावन दलाई लामा सहित ये लगभग 1 लाख तिब्बती भाई-बहन हमारी शरण में जरूर हैं लेकिन हमारे लिए यह संग्रहणीय और सम्माननीय हैं। किसी प्रकार

से बोझ नहीं। बल्कि भारत-चीन के बीच जो एशिया में और विश्व में स्पर्धा है उसमें अगर चीन के मुकाबले भारत का पलड़ा भारी पड़ता है तो वह तिब्बत के चलते। अन्यथा कूटनीति में, पलटनी ताकत में, आर्थिक विकास में, खेल-कूद में चीन हमेशा भारत से आगे है। कहीं अगर उसे नीचा देखना पड़ता है तो इस तिब्बत प्रकरण में। परम पावन दलाई लामा सहित तिब्बती सृजनशील अल्पमत तिब्बत छोड़कर भारत आया और यहां बसा हुआ है यह चीन के खिलाफ और भारत के पक्ष का सबसे तगड़ा 'कार्ड' है।

हिमालयी सीमा पर लद्दाख से लेकर अरुणाचल प्रदेश की अपनी यात्राओं में यह देखा-सुना कि इन सीमाओं पर थर्मस, जैकेट, जूता, टार्च, कम्बल, सड़क सब उन्हें चीन की पसंद है। फिर भी वे चीन से विमुख और भारत की ओर अभिमुख हैं तो इस कारण कि चीन में धर्म नहीं है, वहां परम पावन दलाई लामा की जगह नहीं है; भारत में है। इस धर्म के नाते ही अपने प्राण की बाजी लगा कर चीनी आक्रमण के दिनों में भी अरुणाचल प्रदेश के और हिमालयी सीमांत के लोगों ने चीन का नहीं, भारत का साथ दिया। सारे जनतांत्रिक विश्व में (भारत सरकार को छोड़कर) तिब्बत में मानव अधिकार के प्रश्न पर चीन की आलोचना होती है। उसे धिक्कारा जाता है। हां, पश्चिम में चीन से व्यापारिक लाभ के लोभ से और भारत सहित एशिया में चीन के भय से कोई कार्यवाई नहीं करता, यह संताप का विषय है। सत्य तो तिब्बत का है, किन्तु वह निर्बल है। असत्य चीन का है और प्रबल है। अहिंसक बल और आग्रह से सत्य को कैसे पुनः स्थापित किया जाए? यही प्रश्नों का प्रश्न है।

जो हो, बात भारत चीन सम्बन्ध और उसमें तिब्बत के आड़े आने से शुरू हुई। तो इसमें भारत-चीन के समस्त ज्ञात-अज्ञात इतिहास में तथ्य यह है कि मैत्री का भौगोलिक राजनीतिक आधार दोनों देशों के बीच स्वतंत्र तिब्बत का अस्तित्व रहा है। भारत-चीन के बीच कभी सीमा-विवाद भी नहीं। सीमा भारत और तिब्बत के बीच है। चीन सीमा के एक देश के अंतर पर है। पिछले प्रायः 47 वर्षों से जब से भारत सरकार ने पंडित नेहरू के काल में तिब्बत पर चीन की 'सुजरेन्टी' मानकर चीन को सुपुर्द कर दिया तभी से यह सीमा विवाद शुरू हुआ। यह इतिहास का एक दुर्योग नहीं। आचार्य कौटिल्य ने प्रायः दो हजार वर्षों से अधिक हुए यह नीति बतायी है कि जिन दो राष्ट्रों की सीमा मिलती है वे प्रकृत शत्रु होते हैं। सीमा के पार, एक का अंतर कर जो राष्ट्र होता है वह मित्र होता है। इसी नीति के अन्तर्गत समुद्रगुप्त और शायद उसके भी पूर्व प्रत्यंत प्रदेश को जीत कर उनसे राजकुमारी, रत्न, भेंट स्वीकार कर उसे स्वतंत्र छोड़ देते थे। इस प्रकार पूरी हिमालयी सीमा पर स्वतंत्र राष्ट्र थे। इसलिए भारत और चीन की सीमा का विवाद न था। अब जब तिब्बत चीन का अंग मान लिया जाता है तो फिर चीन संसार की छत पर, भारत की छत पर है। तो वह नीचे ताक-झाँक करे सो स्वाभाविक ही है। न करे तो अस्वाभाविक है।

दूसरे, चीन की जनसंख्या के जिस विस्फोट का और उसकी हरकत का पहले जिक्र हुआ उसके चलते उसे सिंधु, गंगा-जमुना, ब्रह्मपुत्र की उपजाऊ घाटियों से ज्यादा अच्छी उपजाऊ भूमि और कम से कम प्रतिरोध से प्राप्त हो जाने वाली भूमि कहां प्राप्त है? इसलिए

भारत-चीन की वास्तविक मित्रता के लिए इतिहास और सिद्धान्त दोनों ही दृष्टियों से तिब्बत की स्वाधीनता की वापसी जरूरी है। जो तिब्बत की आजादी का विरोध करते हैं वे जाने-अनजाने भारत-चीन की मित्रता के शत्रु हैं ?

इस प्रकार तिब्बत की स्वतंत्रता भारत की उत्तरी सीमा की सुरक्षा है। इतना ही नहीं, तिब्बत पर अपना कब्जा समाप्त कर मित्र की तरह जुदा होने में चीन का भी हित है। क्योंकि स्वतंत्रता और समृद्धि अविभाज्य है। जो चीनी सैनिक पुलिस तिब्बत में कत्ल करते हैं फिर वे त्यागमन चौक में अपने ही युवकों-युवतियों को भी नहीं छोड़ेंगे। इसलिए तिब्बत की मुक्ति में चीन की भी मुक्ति है। इस अर्थ में भी चीन के माथे से यह कलंक का टीका धुल जाता है कि उसने तिब्बत पर कब्जा कर रखा है। और वहां मानव अधिकार और स्वतंत्रता और जीवन का हनन हो रहा है। बनता है साम्यवादी, आचरण है साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी!

स्वेच्छा से हट जाने से तिब्बत से उसके दीर्घकालिक आर्थिक-राजनीतिक सम्बन्ध सुधरेंगे और परस्पर-हितकारक होंगे। बल्कि बड़ा देश होने के नाते चीन के पक्ष में ज्यादा ही होंगे। अन्यथा तिब्बत पर कब्जा बनाये रखने की और स्वाधीनता आन्दोलन को कुचलने की लागत दिनों-दिन बढ़ती जाएगी। जितना चीनी सेना और पुलिस दमन करेगी उतनी आग और फैलेगी। मुक्ति आन्दोलन की हर अगली लड़ाई पिछली से ज्यादा व्यापक और कारगर होगी और तभी रुकेगी जब अपनी मंजिल पर पहुँच जाएगी। यह लड़ाई तिब्बत-चीन दोनों के लिए दुखदायी होगी, सुखद नहीं। हान चीनियों के लिए वैसे भी तिब्बत की कठिन भूमि में बसना कठिन है। उसमें सुख नहीं। उधर पराधीन तिब्बत को सपने में भी सुख नहीं। तो ऐसा काम चीन क्यों करता रहे जिससे उसका मुँह काला हो और न उसे चैन हो, न तिब्बत को।

किन्तु अनुभव बताता है कि देश स्वेच्छा से, आसानी से अपना उपनिवेश नहीं छोड़ता। इसलिए इसकी सम्भावना कम है कि चीन तिब्बत से स्वेच्छा से मित्र की तरह जुदा होगा। तो उसे वहां से हटाने का उपाय क्या है ? भारत, अमेरिका, पश्चिमी-पूर्व यूरोप, आस्ट्रेलिया, एशिया के पड़ोसी देशों की सरकारें चीन पर इतना दबाव डालें कि चीन तिब्बत पर अपना कब्जा छोड़ दे। चीन सरकार इस बाबत परम पावन दलाई लामा से या उनके प्रतिनिधि से वार्ता करे। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर इन प्रश्नों को उठाने में तिब्बत को संयुक्त राष्ट्रसंघ में 'आब्जर्वर' का दर्जा दिलाने से इस दिशा में एक कदम आगे बढ़ता है। ऐसा दर्जा अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस और अलजीरिया के मुक्ति मोर्चे को दिया जा चुका है। उससे दक्षिण अफ्रीका और अलजीरिया में स्वतंत्रता प्राप्त हो सकी। इसके लिए विश्व चेतना को जगाने की और चीन सरकार पर दबाव डालने की जरूरत है। मानव अधिकार के प्रश्न पर जीनेवा स्थित बैठक में चीन पर इस मामले में दबाव बढ़ रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसे उठाना शुरू किया है। भारत सरकार चीन की तुष्टिकरण की नीति छोड़कर इसमें जनतांत्रिक शक्तियों का साथ दे। कम से कम यह जाहिर करे कि इसमें उसका कोई विरोध नहीं है। ध्यान रहे कि परम्परागत रूप से चीन उसका सम्मान नहीं करता जो उसके आगे झुकता है, 'कटोवा' करता है, बल्कि वियतनाम जैसे स्वाभिमानी देश का करता है जो खड़ा हो जाता है और उसके हमले का मुंहतोड़ जवाब देता है।

दूसरी सम्भावना यह है कि चीन में आंतरिक परिवर्तन हो। चीन में जनतांत्रिक शक्तियां परिवर्तन के दौर में उभरें। चीन का बूढ़ा, चुका हुआ नेतृत्व वैसे भी अंत के निकट है। युवा शक्ति जनतंत्र और स्वतंत्रता के पक्ष में है। बीजिंग के त्यागमन चौक के कत्लेआम के बाद वह तिब्बत के दर्द को ज्यादा समझती है। यह जनतांत्रिक युवा चीनी इन दिनों सारे विश्व में फैल गये हैं। जून 1996 में बॉन (जर्मनी) में अमेरिका और यूरोप में निर्वासित चीनी युवकों और तिब्बती युवकों में डायलॉग हुआ। इससे दोनों में परस्पर परिचय और प्रेम बढ़ा है। यह वृत्त फैलकर चीन की मुख्य भूमि को स्पर्श करेगा। जैसे वेणु वन में बाँस के आपसी संघर्ष से ही आग लग जाती है और जंगल को जला कर शांत हो जाती है। इसी न्याय से स्वाधीनता और जनतंत्र की यह अग्नि प्रज्ज्वलित हो और तिब्बत में मुक्ति और शांति हो, चीन में भी। इस प्रकार तिब्बत की स्वतंत्रता भारत की सुरक्षा और चीन के जनतंत्र और एशिया में शांति का निमित्त बने।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मुक्ति साधना व्यर्थ नहीं जाएगी। तिब्बत स्वतंत्र होगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। लेकिन कब होगा ?

यही कामना और प्रार्थना है कि हमारे जीवन-काल में हो। इस सदी के अंत और नये सहस्राब्द, 2001 के प्रारम्भ होते-होते हो। और स्वाधीन तिब्बत में कैलाश-मानसरोवर की मुक्त तीर्थ यात्रा हो।

हम तिब्बत का सवाल क्यों नहीं उठा सकते?

20 मार्च को चीन के विदेश मंत्री श्री छियान छि चन पाकिस्तान से बंबई होकर दिल्ली आ रहे हैं। इसके पहले चीन के प्रधानमंत्री नेपाल और पाकिस्तान की यात्रा कर चुके हैं। उस यात्रा में उन्होंने भारत की अनदेखी की। शायद उस उपेक्षा की भरपाई इस यात्रा का एक उद्देश्य हो। किंतु चीन भारत से अपने संबंधों में इतना संवेदनशील नहीं है। यह उसकी जरूरत भी नहीं। फिर इस यात्रा का प्रयोजन क्या है ?

यह ठीक ठीक तो शायद चीन या भारत के विदेश मंत्री जानते हैं। शायद वह भी नहीं जानते। हो सकता है कि चीन भारत की वर्तमान सरकार के बल या अबल की टोह लेना चाहता है। शायद उसे यह लगता है कि यह एक कमजोर सरकार है। अपने अस्तित्व के लिए ही दांये बांये बाजू की बैसाखियों पर निर्भर है। कश्मीर सांसत में है। तो इस मौके पर चीन भारत की उत्तरी हिमालयी सीमा पर, विशेषकर तिब्बत के मामले में अपना हित सिद्ध कर सकता है। इधर, भारत के विदेश मंत्री को गर्व का अनुभव हो सकता है कि वे नहीं, चीन का मंत्री उनके दरबार में आया। जब कि यह असलियत नहीं है। यह तो भारत के पूर्व प्रधानमंत्री की यात्रा के क्रम में है। और अभी भी श्री छि चन पाकिस्तान होकर ही आ रहे हैं, सीधे नहीं।

यहां सत्ता के गलियारों में इसकी चर्चा है कि हमें चीन को नाराज नहीं करना है। क्योंकि हमारा मामला कश्मीर में फंसा हुआ है। चीन का रुख इस मामले में थोड़ा फरक है। उसने इस पर हाल में कोई वक्तव्य नहीं दिया है। इसलिए चीन को खुश रखा जाए। सो ही हमारे हित में है।

जबकि चीन कश्मीर के मामले में कोई रियायत नहीं बरत रहा है। जब चीन का चेला ही काफी है। उसे चीन की कानी अंगुली का बल प्राप्त है, उतने से ही वह पंजाब और कश्मीर में आतंक फैला सकता है तो उस्ताद को बोलने की जरूरत क्या है। इस पर कोई कह सकता है कि श्रीमान चीन कम से कम मौन है, मुखर नहीं, यही क्या कम है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या चीन कश्मीर को भारत का अंग मानने को तैयार है ? क्या इस पर कोई ढील दे सकता है। हरगिज नहीं। चीन कश्मीर को पाकिस्तान की ही भांति भारत अधिकृत क्षेत्र ही मानता है। और इस पर कोई रियायत नहीं करने वाला है।

अलबत्ता चीन "अधिकृत तिब्बत" पर भारत सरकार से कुछ कहलाना चाहता है। जैसे कि भारत तिब्बत को चीन का अंग मानता है। तिब्बत में चल रहे स्वाधीनता संग्राम को और उसके दमन के लिए जून '82 से लगाए गए मार्शल ला को और बड़े पैमाने पर मानव अधिकार के हनन को चीन का आंतरिक मामला मानता है, इत्यादि। चीन परमपावन दलाई लामा को नोबल शांति पुरस्कार दिए जाने से भी बौखलाया हुआ है। नार्वे की सरकार और जनता ने चीनी विरोध का सामना कर दलाई लामा जी के विश्व शांति के प्रयास में और तिब्बत की स्वाधीनता के लिए अहिंसक और शांतिपूर्ण प्रतिकार का समर्थन किया। जैसे

पोलैंड में वालेसा को पुरस्कार मिलने से "सालिडरिटी" के मुक्ति आंदोलन को बल मिला और पोलैंड कम्युनिस्ट शिकंजे से छूटा। वैसे ही तिब्बत में भी हो सकता है। नोबुल शांति पुरस्कार से दलाई लामा जी की व्यक्तिगत हैसियत पर तो क्या असर पड़ता। यह तो उन्हें मिल कर पुरस्कार ही पुरस्कृत हुआ है। किंतु इससे तिब्बत के स्वाधीनता संग्राम को अंतराष्ट्रीय प्रतिष्ठा और ऊर्जा मिली है। हाल में ही धर्मशाला में तिब्बत के अंतराष्ट्रीय मित्रों के सम्मेलन में विश्व के छह महाद्वीपों के 29 देशों के प्रायः 300 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में तिब्बत के प्रश्न और रणनीति पर भी चर्चा हुई है।

10 मार्च को ल्हासा को चीनी सेना ने चारों ओर से घेर लिया फिर भी 4,000-5,000 तिब्बतियों ने तिब्बत स्वाधीनता दिवस पर जबर्दस्त प्रदर्शन किया। अधिकृत तिब्बत के कर्जा और नङ्पा में भी प्रदर्शन की सूचना है। 24 सितंबर, 1987 से अब तक 55 प्रदर्शन हो चुके हैं। हजारों तिब्बती कैद किए गए हैं और 1000 से अधिक इस बीच मारे गए हैं। 3,00,000-3,50,000 चीनी पलटन इस आंदोलन से निपटने के लिए तिब्बत में हैं। गत जून से "मार्शल ला" लागू है।

जीनेवा स्थित संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव अधिकार आयोग के सामने चीन में मानव अधिकार के हनन का प्रश्न हाल में उठा। मार्च '90 के प्रथम सप्ताह में चीन की ओर से प्रस्ताव आया कि इस पर विचार एक साल के लिए स्थगित किया जाए। अगर भारत इस पर तटस्थ भी रहता तो चीनी प्रस्ताव गिर जाता और चीन में मानव अधिकार की बहाली के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की कारवाई हो सकती थी। किंतु भारत ने मानव अधिकार और आत्म निर्णय के प्रश्न पर तिब्बत और चीनी मुक्ति कामियों का नहीं चीन की दमनकारी सरकार का साथ दिया।

दलाई लामा जी ने शांति की पांच सूत्री योजना प्रस्तुत की है। स्ट्रासबर्ग में इसके पांचवें सूत्र की व्याख्या करते हुए चीन को विदेशी मामलों में अधिकार सुपुर्द करने की रियायत भी दी है। यह प्रस्ताव कृष्ण के पांच गांव मांगने जैसा है। अगर इन्हें भी चीन ने स्वीकार नहीं किया तो कौरवों की तरह उनका काम है। क्योंकि दलाई लामा के साथ धर्म है। उनका रास्ता शांति और शराफत का है।

हमारा देश बुद्ध और गाँधी का देश है। वाराणसी में प्राणि मात्र के सुख के लिए, हित के लिए धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ है। यहीं "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और इसे हम लेकर रहेगें" का मंत्र गूँजा है। भारत की स्वतंत्रता ने एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमरीका के महाद्वीपों में स्वतंत्रता का पथ प्रशस्त किया है और इन दिनों चीन सहित कम्युनिस्ट विश्व में भी स्वतंत्रता और जनतंत्र के लिए तेज हवा बह रही है। ऐसी परिस्थिति में हमारी क्या कोई जिम्मेदारी तिब्बत के लिए नहीं? जबकि तिब्बत की स्वतंत्रता भारत के हित और आदर्श के अनुकूल है। यह चीन के भी हित में है। सुदूर तिब्बत में चीन का कब्जा बनाए रखने के लिए तीन-साढ़े तीन लाख पलटन रखना, मार्शल ला लगाना, निर्दोष तिब्बतियों को गोली से भून देना यह कोई चीन के हित में है? फिर, सारे संसार में और खुद अपने ही देश

में तिएन-मन-चौक में जबरदस्त विरोध का सामना करना चीन के लिए भी कम कष्टकारी नहीं है।

फिर भी, दिल्ली के कुछ मित्र सुझाते हैं कि इस समय तिब्बत का प्रश्न हमें नहीं उठाना चाहिए। कश्मीर पर चीन से कुछ रियायत ले लेनी चाहिए या कम से कम उसकी चुप्पी ही बनाए रखने देना चाहिए। जबकि चीन कश्मीर पर कुछ भी दिए बिना तिब्बत पर भारत से कुछ चाह सकता है। और चीन ही क्यों, संसार शक्ति की भाषा समझता है। अगर वह कश्मीर का प्रश्न समय-बेसमय उठा सकता है तो हम तिब्बती स्वायत्तता और स्वतंत्रता का प्रश्न क्यों नहीं उठा सकते ? दलाई लामा जी की पांच सूत्री शान्ति योजना और उसके पांचवें सूत्र की स्ट्रासबर्ग टीका के आधार पर तिब्बत चीन के प्रश्न के हल के लिए क्यों नहीं कह सकते ? चीन के लिए हमारे पास तो यह सबसे कारगर "कार्ड" है। तिब्बत की स्वाधीनता या परमपावन दलाई लामा हमारे लिए कोई बाधा नहीं बल्कि हमारे लिए एक पवित्र प्रसंग और चीन के लिए अस्त्र भी है। जैसे बड़ी लकीर खींचने से छोटी लकीर छोटी पड़ जाती है, वैसे ही हिमालय में तिब्बत की स्वतंत्रता के प्रश्न को उठाकर हम कश्मीर के प्रश्न को भी छोटा कर सकते हैं।

अब कोई यह न कहे कि तिब्बत को चीन का अंग मानना तो भारत सरकार की नीति है। पहले ही पंडित नेहरू ने भी तिब्बत पर चीन की सर्वथा "प्रभुसत्ता" नहीं मानी थी, "सुजरैनिटी" ही मानी थी और चीन ने भी 1951 में तिब्बत से हुए 17 सूत्री समझौते में तिब्बत की स्वायत्तता और सांस्कृतिक स्वतंत्रता को स्वीकार किया था। फिर भी पंडित नेहरू की जो हिमालयी भूल हुई उसने ही तिब्बत की और भारत की सुरक्षा और अखंडता के लिए लगातार संकट पैदा किया। क्या मौजूदा भारत सरकार श्री नेहरू की उसी विरासत को मानती है ? या गांधी - लोहिया - जयप्रकाश की परंपरा को ? चीन के विदेश मंत्री की यात्रा के सिलसिले में, अन्य बातों के अलावा, ये सवाल उठते हैं और जबाब मांगते हैं।

तिब्बत की स्वाधीनता के तीन वृत्त

तिब्बत के प्रश्न पर भारतीय राजनीति का इन्द्रधनुष धर्मशाला में प्रकट हुआ। यह देख कर अच्छा लगा। विभिन्न राजनैतिक विचारों के सभी प्रकार के लोग कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, जनता दल, यहां तक कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और राजनीति से परे सर्वोदय और रचनात्मक कार्यों में लगे मित्र वहाँ तिब्बत की स्वाधीनता के प्रश्न पर पहली बार जुटे। मैं धर्मशाला अनेक बार जा चुका हूँ। लेकिन पहली बार धर्मशाला के आकाश पर राजनीति का इन्द्रधनुष दिखा है सभी रंग और रंगों के परे। भारत और तिब्बत में इन्द्रधनुष का दिखना शुभ मानते हैं। तो लगता है कि वह क्षण निकट आ रहा है। तिब्बत की खोई स्वतंत्रता को पाने का क्षण, मानव स्वतंत्रता और संस्कृति की अस्मिता की रक्षा का क्षण। मन गरमा रहा है। तो लगता है तिब्बत का स्वराज्य निकट आ रहा है।

इसका यह अर्थ नहीं कि तिब्बत की खोई आजादी कल ही मिलने जा रही है। और कल न मिली तो परसों से कुछ और काम हाथ में लेना है। एक कौम की जिंदगी में पांच-दस साल एक क्षण ही होता है। इसलिए यहां एक क्षण का अर्थ है, पांच-दस साल। पता नहीं यह हमारे जीवन काल में होने वाला है या नहीं। हमारी आशा और प्रार्थना अवश्य है कि यह घटना परम पावन दलाई लामा के जीवन काल में हो।

फिर यह भी असल बात नहीं है कि वह क्षण कब आने वाला है: पांच-दस साल में या इसके पहले या बाद में। असल बात है कि स्वतंत्रता में सुख है पराधीन को सपने में भी सुख नहीं। जैसे मुझे पराधीनता में सुख नहीं, दुख है, वैसे ही तिब्बती भाइयों को पराधीनता में दुख है, स्वाधीनता में सुख है। यह सहज सुख सबको प्रिय है, इस इच्छा को कोई दबा नहीं सकता। कोई कुचल नहीं सकता। यह शिव कुमारी की शक्ति है।

वैसे भी इस युग में कई साम्राज्य ढहे हैं। दूसरे विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन, पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस आदि पश्चिमी यूरोपीय देशों के साम्राज्य ढहे। और हाल ही पूर्वी यूरोप के रूसी साम्राज्य का विघटन हुआ। कोई इसकी कल्पना कर सकता था ? तो हान चीनियों का साम्राज्य भी सदा नहीं रहने वाला है। कम्युनिस्ट चीन का नेतृत्व बुझा हो रहा है। चीन के युवाओं में जनतंत्र की ललक पैदा हुई है। थ्येन आन मन चौक में युवा विद्रोह को राज्य की हिंसा के बल पर कुचल दिया। किंतु अंदर-अंदर विद्रोह सुलग रहा है। वैसे जनतंत्री चीन, यहां तक कि ताइवान भी तिब्बत की स्वतंत्रता का पक्षधर नहीं है। उसे यही सिखाया गया है कि तिब्बत चीन का अंग है लेकिन जो चीनी युवा-युवती कम्युनिस्ट चीन का अन्याय झेल रहे हैं, प्रवासी हैं, वे तिब्बत के दर्द को ज्यादा समझ सकते हैं।

जो हो, तिब्बत की स्वाधीनता के लिए अभी-अभी ल्हासा में जबरदस्त प्रदर्शन हुआ। यह शुरुआत तो यूरोपीय समुदाय के एक उच्च स्तरीय शिष्टमंडल की यात्रा के पूर्व अनेक तिब्बतियों को गिरफ्तार करने के विरोध में हुई। यूरोपीय शिष्ट मंडल ने चीनी सरकार का 'डिनर' का निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। उनका कहना था कि जिन मानव अधिकारों की

रक्षा के निमित्त वे आए हैं यह कदम उसका निषेध है, फिर तो ल्हासा में विरोध भड़क उठा। इसका एक कारण दामों की बेतहाशा बढ़ोत्तरी भी थी। इसके विरोध में बौद्ध भिक्षुओं और नागरिकों ने जो सभा की वह स्वीकृत समय से देर तक चलती रही। उसे भंग करने के लिए चीनी पलटन ने निहत्थी भीड़ पर गोली चलाई। उसमें अनेक जानें गईं। यह आंदोलन 1988 के बाद सबसे बड़ा है। यह तो स्वतंत्रता आंदोलन की प्रकृति ही है, नियम है कि हर अगला आंदोलन पिछले से बड़ा होता जाता है, जब तक कि वह अपनी मंजिल आजादी तक नहीं पहुंच जाता।

तिब्बत की वैसे भी इस युग में कई साम्राज्य ढहे हैं। दूसरे विश्व के तीन वृत्त यद्ध के बाद ब्रिटेन, पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस आदि पश्चिमी वृत्त के केंद्र में यूरोपीय देशों के साम्राज्य ढहे। और हाल ही पूर्वी युरोप के रूसी साम्राज्य का विघटन हुआ। कोई इसकी कल्पना कर सकता था ? तो हान चीनियों का साम्राज्य भी सदा नहीं रहने वाला है। कम्युनिस्ट चीन का नेतृत्व बुझा हो रहा है। चीन के युवाओं में जनतंत्र की ललक पैदा हुई है। थ्येन आन मन चौक में युवा विद्रोह को राज्य की हिंसा के बल पर कुचल दिया। किंतु अंदर-अंदर विद्रोह सुलग रहा है। वैसे जनतंत्री चीन, यहां तक कि ताइवान भी तिब्बत की स्वतंत्रता का पक्षधर नहीं है। उसे यही सिखाया गया है कि तिब्बत चीन का अंग है लेकिन जो चीनी युवा-युवती कम्युनिस्ट चीन का अन्याय झेल रहे हैं, प्रवासी हैं, वे तिब्बत के दर्द को ज्यादा समझ सकते हैं।

स्वाधीनता है। पहले परम पावन है। और निर्वासन तिब्बती वे सबसे में, लगभग तादात में ले कि न तिब्बती दुनिया में इन के अमेरिका है। मैं नहीं अफ्रीका में शेष विश्व को अपनी

आंखों से देख आया हूँ। इस सृजनशील अल्पमत ने तिब्बत की स्वतंत्रता और संस्कृति की रक्षा के प्रश्न को विश्व मंच पर खड़ा कर दिया है। तो यह अंदरूनी वृत्त है। इसका तिब्बत से सीधा संबंध है।

फिर इसके निकट दूसरा वृत्त भारत और उसके निकट पड़ोसी देशों का है। इसमें भारत-तिब्बत का संबंध सबसे ज्यादा निकट का है। एक अर्थ में गुरु-शिष्य का, दूसरे अर्थ में पड़ोसी का और स्वार्थ की दृष्टि से सुरक्षा और समृद्धि का। पंडित नेहरू ने पाप किया जो तिब्बत कम्युनिस्ट चीन को सौंप दिया। लेकिन उन्होंने प्रायश्चित्त भी करना शुरू कर दिया। जो प्रधानमंत्री उनके बाद आए, चाहे वह कांग्रेसी हों या गैर-कांग्रेसी, वे जैसे पंडित नेहरू के पाप के ही वारिस हैं, प्रायश्चित्त करने से डरते हैं। भारत में चीन का भय और

पश्चिमी देशों में — अमेरिका सहित, चीन के बाजार का लोभ तिब्बत के प्रश्न पर हमारा सबसे बड़ा दायित्व है। स्वार्थ और आदर्श दोनों ही दृष्टियों से तिब्बत की स्वतंत्रता हमारे हित में है। हिमालय की सुरक्षा चीन के तिब्बत में आ जाने के कारण है। अन्यथा भारत और चीन की तो कोई सीमा नहीं। सीमा भारत और तिब्बत के बीच है। और जब तक हिमालय में बरफ है, और सिंधु, गंगा, जमुना, और ब्रह्म में जल है तब तक भारत-तिब्बत की मैत्री है। सर्व-सर्वत्र-सर्वदा से चली आई है।

भारत के साथ ही इस वृत्त पर पश्चिम एशिया के देश है। जैसे-सिंक्र्याग तो पूर्वी तुर्किस्तान है। पश्चिमी तुर्किस्तान सोवियत साम्राज्य से स्वाधीन हो चुका है। पूर्वी तुर्किस्तान अभी भी इस चीन साम्राज्य के विरोध में अंदर-अंदर सुलग रहा है। फिर तजाकिस्तान, कजाकिस्तान और एशिया की धुम्धन जातियाँ और कबीलों के आजाद गिरोह हैं। कभी इन्होंने अटलांटिक से प्रशांत महासागर तक की भूमि को अपने धोड़ो की टापों से रौंदा है। अब इनका एक अंश स्वाधीन है। दूसरा स्वाधीनता के लिए बेचैन है। वैसे ही जैसे मंगोलिया अभी भी चीन के कब्जे में है। फिर ताइवान या फारमोसा (सुंदर द्वीप) है। यह तो निर्वासित चीनियों का गणराज्य है। परम पावन दलाई लामा का स्वागत करना चाहते हैं। हालांकि चीनी राष्ट्रीयता से पूरी तरह मुक्त नहीं है। फिर भी कम्युनिस्ट चीन के सताए हुए हैं। दुख सबको मांजता है। शायद निर्वासन के दुख को ताइवान का चीन का गणराज्य समझ सकता है फिर हांगकांग का द्वीप है। वह मुख्य भूमि के कब्जे में आने वाला है। कम्युनिस्ट चीन के इस आश्वासन का कोई मतलब नहीं है कि वहां सिर्फ चीनी प्रभुसत्ता कायम होगी। पर आर्थिक-सामाजिक मामलों में हांगकांग को स्वायत्तता होगी। ऐसा ही आश्वासन उन्होंने तिब्बत को भी दिया था।

जो हो, इससे जुड़ा तीसरा वृत्त युरो-अमेरिका का है। वैसे दूर का है, लेकिन शक्ति के कारण शायद सबसे ज्यादा महत्व का है संयुक्त राज्य अमेरिका, चाहे अनचाहे विश्व के जनतांत्रिक देशों का अगुआ है। उसमें ही प्रभावी ढंग से हस्तक्षेप करने की शक्ति है। अमेरिका ने चीन को व्यापार का अनुकूलतम दर्जा देने के साथ-साथ शर्त लगाई है। चीन को मानव अधिकार के प्रश्न पर विशेषकर तिब्बत के प्रश्न पर सुधार के लिए कहा है। यह एक महत्वपूर्ण शर्त है क्योंकि अमेरिका व्यापार चीन के आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास के लिए अत्यंत महत्व है। इस व्यापार से चीन को 18 अरब डालर का अधिशेष प्राप्त है। पर उधर अमेरिका व्यापारियों को भी एक अरब का विशाल और बढ़ता चीनी बाजार दिखता है। उसका लाभ और लोभ है। यह व्यावसायिक लाभ-लोभ अमेरिका प्रशासन पर दबाव डालता है कि उसे चीन से संबंध नहीं बिगाड़ना है। इधर अमेरिका की स्वतंत्र आत्मा और चेतना उसे तिब्बत में हो रहे मानव अधिकार के हनन के लिए कचोटती है। अमेरिका सीनेट और कांग्रेस दोनों ही प्रस्ताव कर चुके हैं कि तिब्बत चीन का 'अधिकृत देश' (ऑकुपाइड कंट्री) है और तिब्बत में मानव अधिकारों का हनन वे बर्दाश्त नहीं कर सकते। लेकिन यह विरोध शब्द में है। शब्द वह चीज नहीं है। व्यावसायिक लाभ-लोभ ज्यादा प्रबल है। पता नहीं अल्प काल में सत्य क्यों निर्बल होता है ? असत्य क्यों प्रबल है।

इन वृत्तों को देखते हुए भारतीय राजनीति की एक घटना का स्मरण हो आता है कहते हैं कि जिन दिनों चाणक्य मगध साम्राज्य से अपमानित होकर विद्रोह के लिए भटक रहे थे, प्रतिशोध की आग में जल रहे थे उन्ही दिनों की बात है कि एक लड़का रोटी बीच में तोड़ रहा था। उसमें उसका हाथ जल रहा था और रोटी तोड़ नहीं पा रहा था। तो उसकी बूढ़ी दादी ने डांटा। समझाया। तुम तो चाणक्य की तरह मूर्ख हो जैसे वह मगध के राज को बीच में से तोड़ते हैं ? रोटी तो किनारे से तोड़ते हैं। चाणक्य ने सुना। फिर, उन्होंने पश्चिमी सरहदों से मगध साम्राज्य के विरुद्ध संगठन शुरू किया। शायद इसी तरह चीनी साम्राज्य पेइचिंग-शंघाई से नहीं सरहदों से टूटने वाला है। इसलिए अंदरूनी वृत्त के साथ दूसरे तीसरे वृत्त पर काम शायद जरूरी है। इसमें भी भारत और अमेरिका की भूमिका सबसे ज्यादा महत्व की है।

जो हो सत्य के साक्षी होने का क्षण है। वह क्षण निकट आ रहा है। शायद हमें यह अहसास भी है कि हमें जो करना चाहिए वह नहीं कर रहे हैं। कहते हैं जब मोर नाचते-नाचते अपने पांव देखता है तो शरमा जाता है, नीली गहरी, किंतु पांव गंदे हैं। कुछ वैसा ही संकोच हमें है। शायद इस कारण भी इस बार जैसा समागम हुआ वैसा पहले कभी नहीं हुआ। पूरा इंद्रधनुष यहां प्रकट हुआ। लेकिन कहीं लुप्त हो जाता है, अपना कोई चिन्ह नहीं छोड़ता, तो कही ऐसा न हो, ऐसी शंका भी है। पर आशा भी है।

(धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश) में 29-31 मई, 1993 को तिब्बत समर्थन के लिए आयोजित कार्यशाला के समापन पर आयोजित नागरिक अभिनंदन के उत्तर में दिए गए वक्तव्य पर आधारित।)

कैलाश-मानसरोवर यात्रा तो मुक्त हो

कैलाश मानसरोवर यात्रा आखिरी तीर्थ यात्रा है। आखिरी इस अर्थ में कि कैलाश मानसरोवर हिमालय के तीर्थों का तीर्थ है। ये तीर्थ हमारे जातीय स्मृति और संस्कार में रचे बसे हैं। कैलास मानसरोवर तिब्बत में है। 1950 से तिब्बत चीन के कब्जे में है। इसलिए कैलास मानसरोवर चीन के कब्जे में है, मुक्त नहीं है। जब तिब्बत का अंग था तो परंपरागत रूप से भारतीय साधू, गृहस्थ, व्यापारी, विद्यार्थी, कभी राहदनी लेकर तो कभी बिना राहदनी लिए कैलाश-मानसरोवर यात्रा करते थे। तिब्बत से लामा, उपासक-उपासिका, व्यापारी भारत के बौद्ध धर्म के वहां पहुंचने के पूर्व बोन तीर्थ था। यह तिब्बत का आदिम धर्म था। कहते हैं कि बौद्ध योगी और कवि मिलारेपा ने बोन पुजारी को परास्त किया। और तब से यह बौद्ध तीर्थ बना। भारतीय इतिहास पुराण में कैलाश शिव का स्थान है। शिव कैलाश के वासी हैं। पर्वतों में जो भी श्रेष्ठ हैं उन्हें कैलाश कहते हैं। कुमाऊं में भी कैलाश है। हंसा मानसरोवर में विराजता है, और जब उसे मानसरोवर मिल जाता है तो वह ताल-तलैया नहीं डालता।

कैलाश मानसरोवर यात्रा मुक्त नहीं है। तिब्बत पर चीन के कब्जे के बाद भी यह परंपरागत यात्रा जारी थी। मुझे स्मरण आता है कि जब हमने हिमालय यात्रा शुरू की तो एक स्वामी जी नैनीताल से अपने साथ तीर्थ यात्रियों को कैलाश मानसरोवर यात्रा में ले जाते थे। शायद 1961 में भी ऐसी यात्रा हुई। 1962 के चीनी आक्रमण के बाद यह यात्रा बंद हो गई। 1981 में जब यह फिर शुरू हुई तो भी बहुत बंधन में है। भारत सरकार के परराष्ट्र मंत्रालय के उत्तर पूर्व डिवीजन ने कैलाश-मानसरोवर यात्रा, 1995 का विज्ञापन किया है। इसके अनुसार सामान्यतया यात्रा जून से प्रारंभ होकर सितंबर तक चलती है। यात्रा सभी भारतीय नागरिकों के लिए खुली है। प्रायः पच्चीस-तीस तीर्थ यात्रियों की चौदह टोलियां भेजी जाएंगी। पहली टोली नई दिल्ली से जून के प्रारंभ में निकलने की आशा है। उसके बाद हर छह एक दिन बाद टोलियां खाना होंगी। यात्रा की अवधि बत्तीस दिन है। इसमें बीस दिन पैदल या घोड़े पर चलना होता है। यात्रा बहुत कठिन है और विषम स्थितियों में उन्नीस हजार फीट की ऊंचाई तक की चढ़ाई पार करना है। यात्रियों का स्वास्थ्य अच्छा होना जरूरी है। वे रक्तचाप, मधुमेह, दमा, हृदय रोग, मिरगी, आदि के रोगी न हों।

इस विज्ञापन से कई प्रश्न उठते हैं। पहले तो तीर्थ यात्रा में सरकार का सीधा नियंत्रण क्यों? अनुमति पत्र 'बीसा' आदि तक तो समझ आता है। लेकिन जब उद्योग व्यापार तक में उदारीकरण और निजीकरण की नीति अपनाई जा रही है तो कैलाश मानसरोवर यात्रा भारत-चीन सरकारों के बीच क्यों फंसी हुई है? वैसे भी कैलाश मानसरोवर से कम्युनिस्ट चीन का क्या सरोकार? यह तो भारत-तिब्बत को 'स्वायत्तशासी क्षेत्र' मानता है तो इस यात्रा की व्यवस्था उसे इस क्षेत्र को सौंपनी चाहिए। ऐसी कमाई का एक उदाहरण यह है कि नेपाल-तिब्बत यात्रा के विशेषज्ञ 'विष्णु इंटरनेशनल टूर्स एंड ट्रेवल्स' सत्रह दिनों में कैलाश मानसरोवर की विशेष यात्रा की व्यवस्था करता है। इसमें सिर्फ प्रारंभिक तीन दिन काठमाडौं, पशुपतिनाथ, बोधनाथ वगैरह में रहना पड़ता है। फिर कोच से तिब्बत और

जीप से शेष यात्रा । इसकी प्रति व्यक्ति लागत छियालीस हजार छह सौ छियासठ रूपए प्रति यात्री है। जाहिर है इसका चार-पांच से अधिक भाग तिब्बत के नाम पर चीन को मिलने वाला है। ऐसे ही एक विज्ञापन मेरे देखने में आस्ट्रेलिया का आया है। पर्यटन, बीमा, संचार, परिवहन आदि विदेशी मुद्रा की कमाई के 'अदृश्य' स्रोत है। इन स्रोतों से कमाई के जरिए और भी हैं। कहते हैं कि एक घर तो डायन भी बख्शाती है। तो कैलास मानसरोवर यात्रा को सरकार नहीं बख्शा सकती?

जो हो कैलाश मानसरोवर यात्रा को मुक्त करने का तत्काल अर्थ यह नहीं है कि राज्यों के बीच की जो औपचारिकताएं, पासपोर्ट, वीसा आदि हैं वे न रहें। हालांकि जब यूरोप जो आधुनिक राष्ट्रीयता का मूल स्थान है, ऐसे प्रतिबंध हटा रहा है और पश्चिम यूरोपीय राष्ट्रों के नागरिकों के लिए एक देश से दूसरे देश में जाने में रोक-टोक नहीं है तो जम्बू द्वीप के भारतखंड में ही यह रोक-टोक क्यों? वैसे भी कैलाश मानसरोवर बृहत्तर भारत का, सांस्कृतिक भारत का अंग है। राजनीतिक दृष्टि से तिब्बत का है। चीन का वहां क्या काम? इसलिए अनुमति लेना हो तो कायदे से भारत के राष्ट्रपति या उनकी सरकार और तिब्बत के परम पावन दलाई लामा या उनकी प्रवासी सरकार से अनुमति और आशीर्वाद लेकर यात्रा की जानी चाहिए। मेरी सूचना है कि प्रवासी तिब्बती असेंबली आफ डिपुटीज (प्रवासी तिब्बत संसद) स्वतंत्र तिब्बत में कैलास मानसरोवर को मुक्त तीर्थ मानने के प्रस्ताव पर विचार कर रही है। यह तो दीर्घकाल में होना ही है। तत्काल क्यों नहीं?

तत्काल भारत और चीन सरकारों में कैलाश मानसरोवर यात्रा को मुक्त करने पर बातचीत शुरू हो। इस बाबत 1962 के पूर्व की स्थिति वापस लौटे। जैसे मन के, वैसे ही मानसरोवर के अनेक रास्ते हैं। लद्दाख के चाड़थड़ से तो कुछ घंटों का रास्ता है। किनौर से शिपकला होकर है। उत्तराखंड से बद्रीनाथ होकर है, कुमाऊं से पिथौरागढ़ - धारचूला-लिपुलेख दर्रा होकर तो यात्रा हो ही रही है। फिर नेपाल, सिक्किम सब दूर से रास्ता है। यह रास्ते खुलने चाहिए। जैसे व्यापार के दो रास्ते खुले हैं, वैसे ही तीर्थ यात्रा का भी खुलना चाहिए।

कैलाश मानसरोवर यात्रा की मुक्ति का तात्कालिक अर्थ है कि सरकारी एकाधिकार से मुक्ति। यह मामला एकाधिकार बनाम प्रतिस्पर्धा का है। जैसे अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धा का लाभ बताया जाता है, हवाई यात्रा आदि में दिखता है वैसे ही कैलास मानसरोवर यात्रा में क्यों नहीं हो सकता? यह प्रश्न दो सभ्यताओं और संस्कृतियों के बीच संघर्ष का है।

मेरी कल्पना में तो अपनी-अपनी गठरी-मोटरी लेकर परंपरागत ढंग की तीर्थ यात्रा की छूट हो। उसमें डाक्टरी जांच का भी क्या काम? कौन जीने का पट्टा लिख सकता है? और जो जिंदा है वही कौन सी जिंदगी जी रहा है? इसलिए अगर कोई इस अखिरी यात्रा से न लौटे तो यह स्वतंत्रता या मुक्ति भी उसका जन्मसिद्ध अधिकार बल्कि कर्तव्य है।

अंत में मैं नहीं जानता कि कैलाश मानसरोवर यात्रा के पीछे मेरी क्या कामना है।
यह तिब्बत मुक्ति साधना का अंग है? या मेरी मृत्यु कामना है? या दोनों हैं? या दोनों नहीं
हैं? और यात्रा है।

जनसत्ता

18.07.95

तिब्बत का दर्द हमारा भी है

दिल्ली के कांस्टीट्यूशन क्लब में 'हिमालय बचाओ, तिब्बत बचाओ' सम्मेलन में शुरू में पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह का स्मरण हो आता है। कई साल हुए जार्ज फर्नांडीज के तिब्बत और दक्षिण एशिया में शांति के लिए अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में डाक्टरों और भारत सरकार के अफसरों की राय के खिलाफ वे यहां आए। तिब्बत की आजादी के लिए बोले। मधु लिमये देश और तिब्बत की स्वतंत्रता के प्रकाश स्तंभ थे। युवा दिनों में देश की आजादी की लड़ाई लड़ी। गोवा मुक्ति के लिए पुर्तगाली जेल की यातना सही। तिब्बत की स्वाधीनता के लिए सदा सलाह-मशविरा देते रहे। यह जो भारत -तिब्बत मैत्री संघ है, उनकी ही प्रेरणा से बना। उन्होंने कुछ साल पहले कहा कि कई एक संगठन काम कर रहे हैं इन्हें मिलाकर एक संगठन बनना चाहिए। सो यह बना।

सम्मेलन का जो विषय है, हिमालय बचाओ, तिब्बत बचाओ वह दो नहीं है एक है। हिमालय बचाओ का मतलब है तिब्बत बचाओ, तिब्बत बचाओ का मतलब है हिमालय बचाओ। क्योंकि हिमालय तो हिम का आलय है, बरफ का घर है। कुछ लड़के-लड़कियां जो तस्वीरों में या टेलीविजन में हिमालय देखते हैं वे समझते हैं कि हिमालय में तो नुकीली चोटियां हैं उन पर रहते कैसे हैं? उन बर्फानी चोटियों के इस पार, उस पार का फरक है। वैसे यह भी उतना नहीं है। क्योंकि लद्दाख तो उस पार ही है जैसे कि तिब्बत है।

लोग पूछते हैं कि सम्मेलन से क्या फायदा? यही देश की आजादी की लड़ाई के दिनों में भी पूछते थे। कहते थे कि अंग्रेज के राज में सूरज नहीं डूबता है। नारे लगाने से, जेल जाने से अंग्रेज का राज कहीं खत्म होगा? स्वराज्य आएगा? लेकिन अंग्रेजी राज का सूरज डूबा। भारत और एशिया, अफ्रीका के महाद्वीप और देश आजाद हुए। यह स्वाधीनता आंदोलन का स्वभाव है कि हर अगला आंदोलन पिछले से बड़ा होता जाता है जब कि वह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाता।

तिब्बत की मुक्ति साधना के लिए उतना समय नहीं है जितना कि हिंदुस्तान के लिए था। क्योंकि यहां 40 करोड़ हिंदुस्तानियों के मुकाबले कुछ लाख अंग्रेज थे। इसलिए हम आजादी की लड़ाई सौ साल चला सकते थे। तिब्बत में अभी भी 50-60 लाख तिब्बतियों के मुकाबले 60-70 लाख चीनी बसाए जा चुके हैं। इसलिए सौ साल या हजार साल तो क्या, दस साल भी अगर मुक्ति न मिली तो फिर कैसी मुक्ति? किसकी मुक्ति? वहां जनमत संग्रह भी हो तो चीनी बहुमत में होंगे। इसलिए यह नहीं है कि मुक्ति सौ साल में भी आए तो हम साधना करते रहेंगे। लेकिन उतावली भी दूसरा अंत है। उतावली हिंसा है। जल्दबाजी में कुछ कदम उठाना घातक है। इसलिए जहां दीर्घसूत्री होना एक अंत है, वहां उतावली दूसरा, इन दो अंतों से बचकर चलना मध्य मार्ग है। वह क्या है?

सम्मेलन में पर्यावरण प्रदूषण की, हिमालय के नाश की, जल, जमीन और जंगल के नाश की चर्चा हुई। सो बहुत महत्व की है। जल तो जीवन है, जमीन सबको धारण करती

है और सम्यता तो जंगल से ही निकलती है। लेकिन तिब्बत का प्रश्न सिर्फ पर्यावरण का नहीं है। यह पर्यावरण प्रदूषण और पराधीनता का है। पराधीन को सपने में भी सुख नहीं। 'पराधीन सपनेहुं सुख नाही', तिब्बत का दुख तो दूना है। मानव अधिकार के हनन तो बहुआयामी हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक स्तरों पर मानव के अधिकारों कर्तव्यों का हनन होता है। स्वतंत्र देशों में भी होता है। कम्युनिस्ट चीन में पेइचिंग में थ्येन आन मन चौक में अपने ही विद्यार्थियों को गोली से भून दिया। उन्हें आज भी बोलने की, लिखने की, विदेश में पढ़ने की, संगठन की आजादी नहीं है। लेकिन तिब्बतियों का दर्द इतना ही नहीं है। इसे चीनी विद्यार्थी अब ज्यादा समझ सकते हैं। मुझे जो चीनी युवक-युवतियां ताइपेन, जिनेवा या वाशिंगटन में मिले वे अब तिब्बतियों का दर्द ज्यादा बूझते हैं। क्योंकि जब उनकी सरकार उनके साथ ऐसा कर सकती है तो ल्हासा में या खतम या अमदो में तिब्बतियों के साथ क्या नहीं कर सकती? उनमें से जो संवेदनशील हों, वे समझते हैं। अन्यथा पहले विचारधारा के और कुशिक्षा के प्रभाव में वे कुछ सुनते नहीं थे, न देखते थे। जिन देशों में यह स्वतंत्रता है या जिन्होंने इसे आजादी की लड़ाई लड़ कर हासिल की है उनका यह फर्ज बनता है कि वे तिब्बत को आजादी दिलाने का हर संभव प्रयत्न करें। अपने सामूहिक पाप का प्रायश्चित करें।

इसमें भारत की और जनतांत्रिक देशों का नेता होने के नाते संयुक्त राज्य अमेरिका की, यूरोप की विशेष जिम्मेदारी है। भारत की तो इसलिए भी कि यह भारत की विशेष जिम्मेदारी है। भारत की तो इसलिए भी कि भारत की हिमालयी भूल नहीं, हिमालयी पाप है जिसके कारण तिब्बत चीन के नाजायाज कब्जे में है। अन्यथा दिल्ली में मार्च 1947 के एशियाई सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू ने तिब्बत को स्वतंत्र देश के रूप में न्योता दिया था। उन्होंने पाप किया जो तिब्बत को चीन को रौंदने दिया। लेकिन उन्होंने प्रायश्चित भी करना शुरू किया। 1959 में परम पावन दलाई लामा का स्वागत किया। कम्युनिस्ट चीन और उनकी समर्थक कम्युनिस्ट पार्टियों और बुद्धिजीवियों की आलोचना के बावजूद उन्हें राजकीय अतिथि माना और अपनी संस्कृति की और स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए अवसर और साधन भी दिया। 1962 के चीनी आक्रमण के बाद भारत की सीमा का पक्ष सावधानी और दृढ़ता से प्रस्तुत किया। नवंबर 1962 में संसद ने प्रस्ताव किया कि चाहे कितना ही लंबा संघर्ष क्यों न हो जब तक देश की एक इंच जमीन भी चीन के कब्जे में होगी हम चुप नहीं बैठेंगे। तिब्बत के बारे में शुरू में 'सुजरेनिटी' 'सावरेनिटी' की कानूनी नफासत के बावजूद, संसद में यह घोषित किया कि तिब्बत के मामले में अंतिम निर्णय तिब्बत की जनता का है। जो हो, चीन के हमले से वे टूट गए। और '64 में उनके निधन के बाद प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने तिब्बत के प्रश्न पर थोड़ा साहस दिखाया। वे एक समय तिब्बत की प्रवासी सरकार को मान्यता देने की बात भी सोच रहे थे। लेकिन ताशकंद समझौता उनके मरण का निमित्त बना। उनके बाद की कांग्रेसी व गैर कांग्रेसी सरकारें दोनों ही पंडित नेहरू के पाप की ही वारिस हैं, प्रायश्चित की नहीं। फिर भी, दलाई लामा को और प्रवासी तिब्बतियों को चीन के विरोध के बावजूद अपनी संस्कृति की रक्षा और स्वतंत्रता या स्वायत्तता के लिए काम करते रहने देने के मामले में नेहरू जी की नीति बाद में प्रधानमंत्रियों और सरकारों के काल में भी बनी है। क्या इन दिनों इसमें कोई बदलाव आ रहा है?

ऐसा लगता है कि चीन से संबंध सुधारने के अति उत्साह में या चीन के पुराने प्रेम में कुछ मित्र यह समझते हैं कि भारत-चीन एशिया के दो बड़े देश हैं। इनमें अगर मैत्री हो तो यह दोनों के हित में है और फिर ये एशिया में और विश्व में एक शक्ति बन सकते हैं। विशेषकर सोवियत संघ के विघटन के बाद जो शून्य आया है उसे भर सकेंगे। इसमें तिब्बत एक विघ्न है। वे शायद सोचते हैं कि हमें तिब्बत से क्या लेना-देना है। ये अपने देश जाएं। अब थोड़ी इसकी जांच जरूरी है।

एक तो भारत का धर्म है, और मनुष्य का धर्म है शरणागत की रक्षा। और उसमें भी भारत-तिब्बत का रिश्ता गुरु और शिष्य का है। शताब्दियों पूर्व भारत ने तिब्बत को बौद्ध धर्म दिया जो भारत में न रहा तो तिब्बत में रहा है। इस अर्थ में अब दलाई लामा और तिब्बती साधक और विद्वान बौद्ध धर्म के गुरु हैं और हम भारतीय और यूरोपीय, अमेरिका व अन्य शिष्य। वैसे भी धर्म तो परायी पीड़ा को जानता है। प्रायः एक लाख तिब्बती अपना घर बार छोड़ कर अपने धर्म, संस्कृति और अस्तित्व की रक्षा के लिए भारत और विश्व में निर्वासित हैं। हमारी संस्कृति निर्वासित के पराक्रम की गाथा है। लंका को विभीषण को सौंपना, यह एक निर्वासित का उत्साह है। वैसे ही परम पावन दलाई लामा का चरित्र एक निर्वासित के शौर्य और धैर्य की गाथा है। दुर्दिन में भी सत्य के लिए कष्ट झेल रहे हैं और अहिंसा के पथ से विचलित नहीं हैं। यहां तक कि चीन के प्रति भी उन्हें द्वेष नहीं है, वे उसका भी भला चाहते हैं। और मानते हैं कि अगर उनकी वजह से भारत-चीन मैत्री में खलल पड़ रहा हो तो वे इसमें आड़े नहीं आना चाहेंगे।

क्या यह सच है कि भारत चीन के बीच मैत्री में तिब्बत की अटक है? यह ऐतिहासिक या सैद्धांतिक किसी भी दृष्टि से सत्य नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से, भारत और चीन प्रायः दो हजार वर्षों से मित्र रहे हैं, और तिब्बत इनके बीच शांति का एक क्षेत्र रहा है। यह तो जब से तिब्बत को चीन ने निगल लिया लेकिन वह उसे पचा नहीं पाया तब से भारत-चीन का सीमा विवाद ही नहीं खड़ा होता, अगर पूर्व शताब्दियों की ही भांति तिब्बत बीच में स्वतंत्र गद्दी की तरह होता। इधर पेइचिंग और दिल्ली में सीमा पर वास्तविक नियंत्रण रेखा दूढ़ी जा रही है। यह तो कल्पित रेखा है। महीन रेखा या कोई भी रेखा हो वह भारत-तिब्बत के बीच है। और वास्तव में तो हिमालय के प्रायः 5,000 किलोमीटर के विस्तार में कहीं कोई रेखा न है, न हो सकती है। एक सा हिमालयी पठार, नदी का बहाव; वनस्पति या उसका अभाव, आदिम और बौद्ध धर्म, रीति रिवाज भाषा संबंध और पसंद हिमालय के इस पार, उस पार एक सा है। वहां तो कहीं ऐसा है नहीं। जो रीति रिवाज और संधियों की रेखा है वह भारत और तिब्बत के बीच है। जिनमें कहा गया है कि जब तक हिमालय के शिखरों में बरफ है, जब तक सिंधु, ब्रह्मपुत्र आदि में जल है, जब तक सूरज और चंद्रमा है तब तक हमारी यह मैत्री है। भारत तिब्बतियों के लिए तीर्थ है और तिब्बत का कैलाश मानसरोवर भारतीयों का तीर्थ है।

सैद्धांतिक दृष्टि से भी जिन राज्यों की सीमा मिलती है, वे कौटिल्य के अनुसार, 'प्रकृत शत्रु' होते हैं। सीमा, टेड-मेड को लेकर एक ही खून के भाइयों में झगड़े होते हैं,

फौजदारी कत्ल होता है। तो देशों के बीच सीमा या तो तीर्थ स्थल बनती है या युद्ध स्थल। तिब्बत के साथ हिमालयी सीमा तीर्थ स्थल थी, चीन के साथ युद्ध स्थल। और यह भारत सरकार कितना भी मीठा बोले, कभी झूठ बोले कि तिब्बत चीन का अंग है, चीन सरकार तो नहीं बोलती कि कश्मीर भारत का अंग है, कभी नहीं मानती कि अरुणाचल प्रदेश और सिक्किम भारत के राज्य हैं, इत्यादि। क्योंकि यह प्रबल राष्ट्रों की प्रकृति है, और चीन को तो अपनी जनसंख्या को जहां तहां बसाने के लिए जमीन की ऐसी भूख है, भारत की शस्य श्यामला भूमि का इतना लालच है कि अगर वह छत पर है तो वहां बना रहना चाहेगा और मौका पाते ही घर में, अंगन में उतरना चाहेगा। यह उसका स्वार्थ है, हित है और इससे ही उसकी विदेश और पलटन की नीति चलती है। अब इसके मुकाबले भारत का क्या हित है? और क्या आदर्श और धर्म है? कोई बताइए।

शिवि की तरह शरणागत कबूतर के लिए अपना मांस काट-काट कर तराजू पर रखना तो हमारा धर्म और संस्कार है। लेकिन हम इतने उदार न रह गए हों, और अपनी चमड़ी और मांस बचाना चाहते हों तो देश की सीमा हमारी चमड़ी है। अगर उसमें घुसपैठ हुई और हम न चेते तो फिर वह मांस मज्जा पर हमला होता है और सत सुक्रत पर। इतनी देहबुद्धि भी नहीं है। तिब्बत की स्वाधीनता में हमारी सुरक्षा है, शांति है, यह समझ देश के गांव के आदमी तक को है। पता नहीं किस भय या दृष्टि के चलते यह समझ साउथ ब्लाक और रेसकोर्स को नहीं है ?

वैसे भी, एशिया में जो शक्ति का त्रिभुज है उसमें भारत, चीन और जापान तीन भुजाएं हैं। उनमें भारत और चीन की स्पर्धा में चीन आर्थिक, सामाजिक और कूटनीतिक दृष्टि से भारत से ज्यादा शक्तिशाली है। तिब्बत में दलाई लामा और बौद्ध धर्म संस्कृति की हानि और स्वतंत्रता और मानव अधिकार के हनन के चलते ही उसे एशिया में व विश्व में नीचा देखना पड़ता है। इसलिए यह चीन के भी हित में है कि वह तिब्बत को उसकी स्वतंत्रता वापस दे कर अपना कलंक धो ले और स्वतंत्र और समान राष्ट्रों की बिरादरी में प्रेम से निश्चित बैठे। भारत के लिए तिब्बत की स्वतंत्रता का पक्ष लेना न सिर्फ उसकी स्वाधीनता आंदोलन की अगुआई की यशस्वी परंपरा के अनुरूप है, बल्कि यह चीन की स्पर्धा में उसका एक प्रबल हथियार है। आज कल 'कार्ड' की चर्चा होती है। एशिया की और विश्व की बाजी में तिब्बत भारत का चीन के मुकाबले में सबसे प्रबल कार्ड है। चीन से अपने संबंधों के सुधार में इसका हम इस्तेमाल क्यों नहीं कर सकते? एक बार 1962 की पिटाई के बाद हम चीन से इतना डरते क्यों हैं? हमें लगता है कि देश की जनता या सेना नहीं डरती। दिल्ली के अफसर और कमजोर दिल के नेता डरते हैं और अपने डर को देश पर थोपते हैं। अपनी कमजोरी के लिए तिब्बत को दोषी ठहराते हैं। या उसे अपनी मुसीबत मानते हैं। जबकि ऐतिहासिक और सैद्धांतिक दोनों ही दृष्टियों से यह सत्य नहीं है। इसके विपरीत भारत-चीन की दीर्घकालिक और वास्तविक मित्रता के लिए स्वतंत्र तिब्बत का शांतिमय अहिंसक क्षेत्र एक पूर्व आवश्यकता है।

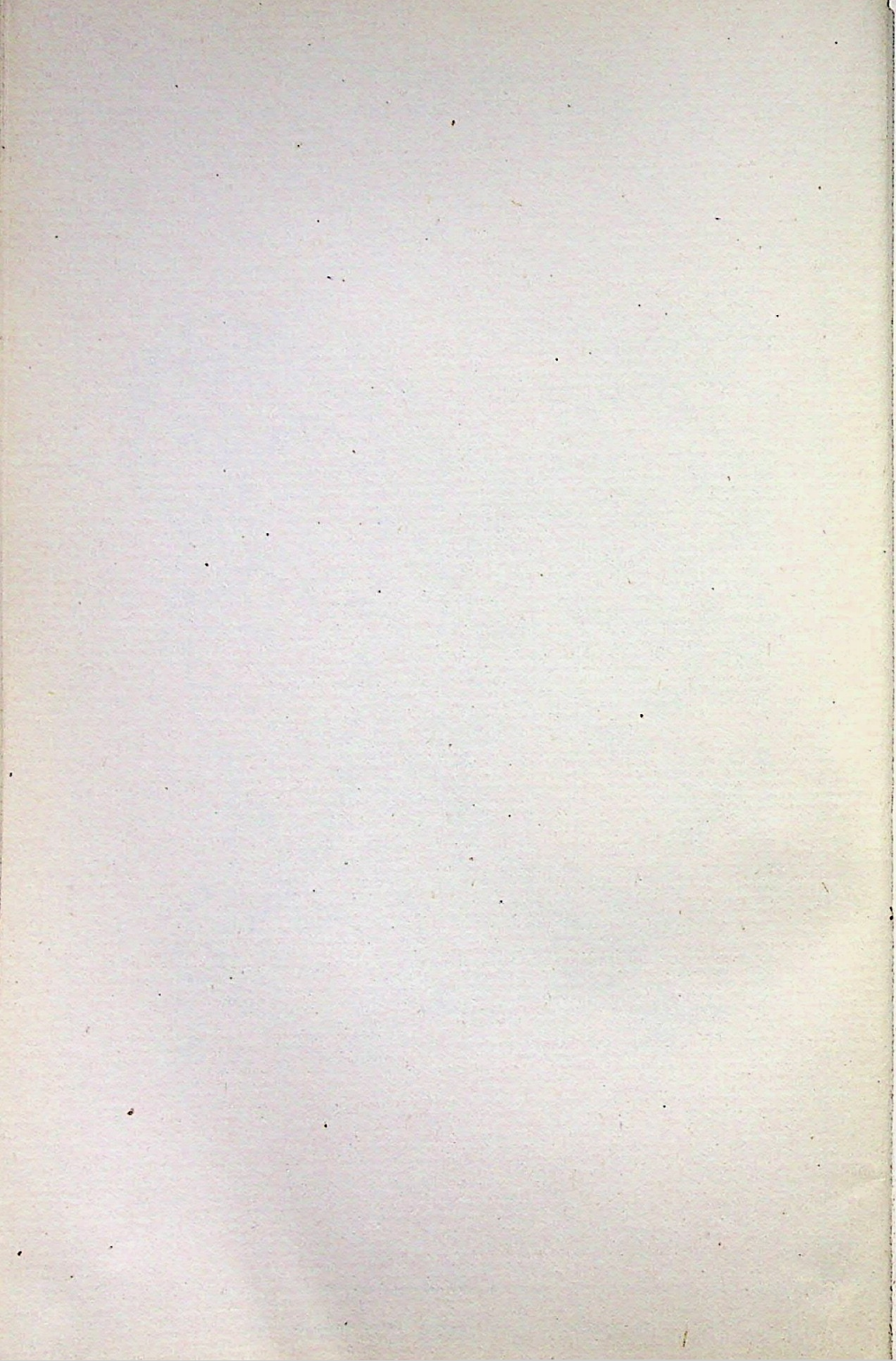
यह भी कुछ लोग कहते हैं कि हमारे सामने बड़े-बड़े सवाल हैं। हमारा अपना ही

हाल बुरा है। कश्मीर है, पंजाब है, उत्तराखंड है, बोडोलैंड है, इत्यादि। इसमें आप तिब्बत का सवाल क्यों खड़ा कर देते हैं ? यह तो एक अनुभव है कि एक बड़ा पुण्य का काम उठाइए तो छोटे मोटे काम उसमें अपने आप हो जाते हैं। अभी तिब्बत के प्रश्न पर हस्ताक्षर अभियान में ही लद्दाख से लेकर अरुणाचल तक के हिमालयी सीमांत के मित्र और तिब्बती भाई-बहन, और लेह से लेकर कन्याकुमारी तक, कच्छ से कोहिमा तक, देश एक हो गया। दलों की सीमा रेखा पार कर प्रायः 65 संसद सदस्यों ने तिब्बत के प्रश्न पर हस्ताक्षर किए, पांच लाख के करीब हस्ताक्षर कर अध्यक्ष, लोकसभा को संसद भवन में यह याचिका प्रस्तुत की और यह तो एक प्रतीक है। उस दीप का जो देश के और विश्व के अंतर में जल रहा है। लेकिन जो सब दूर भय या लोभ के सोने के ढकने से ढका हुआ है। यह ढकना कैसे हटाया जाए। कोई बताएगा।

1870 में तिब्बत, भारत व चीन



श्री त्सेवांग नोर्बु (जमर्नी) के सौजन्य से



भारत-तिब्बत मैत्री संघ
6, ब्रह्मपुत्र छात्रावास संरक्षक निवास
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067